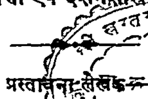
# श्रमण संस्कृति और कला

लेखक—

मुनि कान्तिसागर

सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एवं दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान



प्रस्तावना लेखक—

डाक्टर हीरालाल M. A. L

दर्शनशास्त्र एवं प्राचीन श्रमण संस्कृति के अनुसन्धानिक

नागपुर


प्रकाशक—

स० सिं० सुरेशचन्द्र जैन

[ मन्त्री–श्री मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा ]

४८१ सुभाष पथ, जबलपुर ।

प्रकाशक :—

सेठ लालचंद्र जैन, दमोह

और

स० सिं० सुरेशचन्द्र जैन,

[मंत्री—श्री मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा]

जबलपुर

प्रथमावृत्ति १००० 

| | | |
|---|---|---|
| अत्यन्त आकर्षक | महावीर सं० २४७८ | सजिल्द |
| सचित्र २) | विक्रम सं० २००६ | २॥) |
| | ई० सन् १९५२ | |



मुद्रक :—

एन० एल० जैन

चन्द्रकान्ता प्रिंटिंग वर्क्स,

गांधीगंज, जबलपुर

## श्रमण संस्कृति और कला—



"तीर्थंकर महावीर स्वामी, कुण्डलपुर जी (सागर) की १४०० वर्ष प्राचीन ३ फुट ऊँचे सिंहासन पर विराजमान अद्भुत आकर्षक १२ फुट ऊँची प्रतिमा।"

# श्रमण संस्कृति और कला—

## विश्व का नवमा आश्चर्य

卐 卐



卐 卐

जैन धर्म के संस्थापक श्री १००८ महाश्रमण प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव जी के अनुज बाहुबलि स्वामी (श्री गोमटेश्वर श्रवण वेलगोल, मैसूर) की ५७ फुट ऊँची अत्यन्त आकर्षक विशालकाय प्रस्तर मूर्ति

## समर्पण

उन
कलाकारों को जिन्होंने
श्रमण संस्कृति को
रूप दान
दिया



—मुनि कान्तिसागर

# प्रस्तावना



मानवीय संस्कृति की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं—ज्ञान, नीति और सौन्दर्य, मनुष्य में अपने को और अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों व पदार्थों तथा परिस्थितियों को जानने, समझने व उनका विवेचन करने तथा अपने अनुभवों को स्मरण रखने की विलक्षण शक्ति है। इसी के फल स्वरूप मनुष्य को जगत् की प्रगति के हजारों वर्षों के इतिहास का ज्ञान है, और प्राचीन ज्ञान के सहारे प्रकृति की शक्तियों को उत्तरोत्तर अधिकाधिक समझ कर उसने आज रेडियो व वायुयानों के आविष्कार, द्वारा संसार भर को एकमएक बना लिया है।

मनुष्य वस्तुस्थिति को जान लेने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता। उसमें नैतिक चेतना भी है, जिसके कारण वह यह भी जानना चाहता है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। इस चेतना के फलस्वरूप उसने नाना धर्म, न्याय और नीतियाँ स्थापित की हैं जिनके बल पर मनुष्य के सामाजिक जीवन का संचालन होता है।

यों तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पक्षी भी घोंसले आदि बनाते हैं, किंतु मनुष्य की यह विशेषता है कि वह जो कुछ बनाता है, उसमें सौन्दर्य लाने का भी प्रयत्न करता है, उसे काम चलाउ वस्तु बना लेने मात्र से पूरा सन्तोष नही होता। मनुष्य की इसी सौन्दर्य-प्रियता ने कला को जन्म दिया है। मनुष्य ने घर ही नहीं बनाये, उसने भव्य और दिव्य इमारतें भी खड़ी की हैं जिनके उपयोग से ही नहीं, किन्तु दर्शन

मात्र से चित्त प्रसन्न हो जाता है। सुन्दर भवन निर्माण की इसी कला को स्थापत्य या वास्तु कला कहते हैं। सौन्दर्य की इससे भी अधिक उपासना हमें मूर्तिकला में दिखाई देती है। मनुष्य ने देवी देवताओं और मुनियों व महापुरुषों की ही पाषाणादि की ही प्रतिमाएं नहीं बनाई, किन्तु पशु पक्षियों और शेर चीतों की भी मूर्तिया बनाई हैं, और उनमें ऐसे भाव भरे हैं कि वे हमें निरन्तर आकर्षित किया करती हैं। सिंहों और व्याघ्रों से हम भय खाते हैं, किन्तु उनकी सुन्दर मूर्तियाँ हमें आल्हादित करती हैं। अपने राष्ट्रीय चिन्ह में जब हम तीन सिंह एक साथ बैठे देखते हैं तब हमारा हृदय आनन्द विभोर हो जाता है, और हमारे मन में देश भक्ति, स्वाभिमान आदि भावनाएं एक साथ जागृत हो उठती हैं। यह भावोद्दीपन चित्रकला के द्वारा और भी तीव्रता से किया जाता है। किसी भित्ति या फलक पर चतुर चित्रकार रंगलेप द्वारा प्रकृति के चित्रण में अपनी कल्पना का ऐसा समावेश कर देता है, कि दर्शक भावावेश से विकल हो उठता है।

भारत में सहस्रों वर्षों से इन तीनों कलाओं की उपासना होती आ रही है और इस उपासना का व्यवस्थित इतिहास है। भारतीय संस्कृति की तीन प्रमुख धारायें हैं—जैन, बौद्ध और वैदिक। इन तीनों धाराओं में उक्त कलाओं का सामान्य और विशेष दोनों रूपों में विकास हुआ है। उक्त कलाओं के नमूने सौन्दर्य की दृष्टि से तो अध्ययनीय हैं हीं, साथ ही इतिहास की दृष्टि से भी वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। वैदिक और बौद्ध कला का तो बहुत कुछ अध्ययन यूरोपीय और भारतीय विद्वानों ने किया है किन्तु जैन कला का अपेक्षाकृत उतना अध्ययन नहीं हुआ। यह उपेक्षा चिन्तनीय है क्योंकि जैनकला, प्राचीनता, प्राचुर्य भावव्यक्ति, पद्धति आदि बातों में किसी भी अन्य संस्कृति की कला से हीन नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मुनि श्री कांतिसागर जी महाराज ने "श्रमण संस्कृति और कला" की रचना की है।

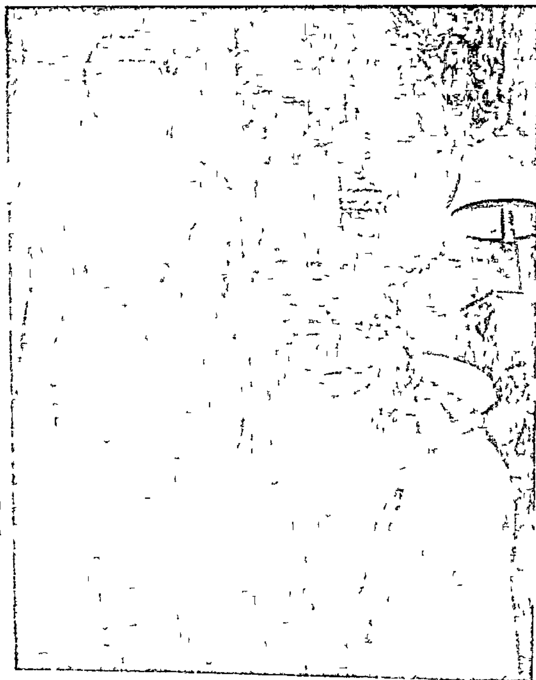
मुनि जी गत अनेक वर्षों से अपनी धार्मिक साधना के अतिरिक्त जैन इतिहास, पुरातत्त्व और कला के सङ्कलन में तल्लीन हैं, और इस क्षेत्र में उनकी सेवाएं अति प्रशंसनीय हैं। मुझे भरोसा है कि उनके द्वारा लिखी गई प्रस्तुत पुस्तक से पाठकों के हृदय में सामान्यतः कला का और विशेष रूप से जैन कला के प्रति प्रेम जाग्रत होगा, और क्रमशः विद्वानों में उत्साह द्वारा उस त्रुटि की पूर्ति हो सकेगी जिसकी हमारे धर्म, पुरातत्व और इतिहास के लिये बड़ी आवश्यकता है।

महावीर जयन्ती,
नागपुर महाविद्यालय,
नागपुर।

हीरालाल जैन
नागपुर महाविद्यालय, नागपुर

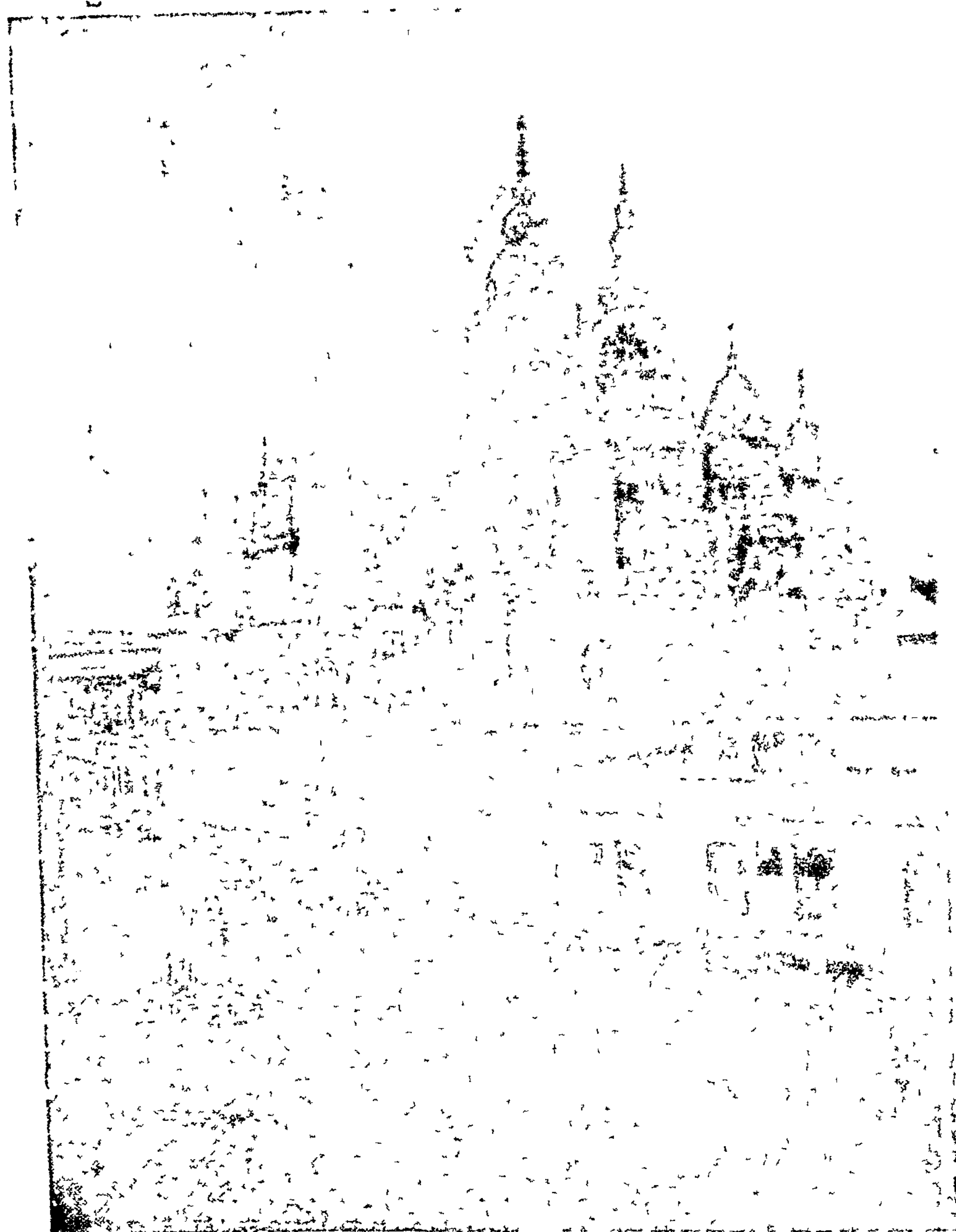


# श्री अतिशय क्षेत्र रामटेक ( नागपुर )—



**भगवान शांतिनाथ** की १५०० वर्ष प्राचीन १० फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा का अवलोकन करते हुए माननीय मंगलदास पकवासा (राज्यपाल मध्यप्रदेश) और डा० हीरालाल (नागपुर महाविद्यालय)।

श्रमण संस्कृति और कला—



श्रमण संस्कृति, धर्म एवं कला की त्रिवेणी गगन स्पर्शी
विशाल जैन मन्दिर सिवनी ( म० प्र० )

# प्रकाशकीय—

"गाज पयामयं"

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

—अकलङ्कदेव

राष्ट्र के नवनिर्माण में जन तन मूलक श्रमण संस्कृति के वास्तविक प्रचार की परम आवश्यकता है बल्कि स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो वह युग की सबसे प्रमुख माँग है। एतदर्थ ही मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा जबलपुर की साहित्यिक विकास योजना को कार्यान्वित करने के हेतु श्रद्धेय मुनि श्री कान्तिसागर जी महाराज द्वारा रचित श्रमण संस्कृति और कला नामक कृति सभा के तृतीय पुष्प के रूप में आपके कर कमलों में समर्पित कर कृतार्थ हो रहा हूँ।

यद्यपि प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का वैज्ञानिक रीति से पूर्णतया अन्वेषण नहीं हो पाया पर उपलब्ध साधनों के आधार पर पुरातत्व वेत्ताओं ने जो अभिमत व्यक्त किया है उससे स्पष्ट विदित होता है कि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के निर्माण, संरक्षण एवं प्रचार में श्रमणधारा का उल्लेखनीय योग रहा है। पुरातन स्तूप, अभिलेख, कलाशिल्प एवं ताड़पत्र व कागज पर चित्रित चित्र कृतियां आज भी उपर्युक्त पंक्तियों को सार्थक कर रही हैं। यदि असाम्प्रदायिक एवं विशाल दृष्टिकोण से गंभीर अन्वेषण किया जाय तो श्रमण संस्कृति के गौरवमय इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। प्रसंगत कहना होगा कि श्रमण संस्कृतिआश्रित कलात्मक प्रतीकों को समझने में विद्वानों ने भारी भूल की है। इनका विवेचन न तो यहाँ अपेक्षित है और न अवकाश ही।

पूज्य मुनि श्री काँतिसागर जी महाराज ने अकथ अनुसन्धान, गहन अध्ययन व निरीक्षण अनुशीलन द्वारा उक्त महत्वपूर्ण कृति का निर्माण कर वर्तमान जन जागरण में नवीन ज्योति प्रदान की, इसे प्रत्येक भारतीय कभी न भुला सकेगा।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन में जो विलम्ब हुआ है उसका मुझे बड़ा खेद है सीमित साधनों एवं अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों ने ऐसा करने को बाध्य किया।

अन्त में सभा की ओर से भारतीय इतिहास और संस्कृति के अन्वेषकों एवं लक्ष्मीपुत्रों से विनम्र प्रार्थना करूंगा कि वे अपनी ओर समय समय पर उचित सहायता द्वारा हमारी उमंगों को बढ़ावें, जिससे उक्त उद्देश्य की यथा सम्भव पूर्ति हो सके।

इस प्रकाशन में श्री पन्नालाल जी कोचर बालाघाट १५१) श्री बाबू हुकुमचंद जी ३००)। तथा डाक्टर हीरालाल जी नागपुर, श्री विजयकिरण जी, बाबू ज्ञानचद जी प्रकाशन विभाग नागपुर, मंत्री श्री जैन सेवा मंडल नागपुर, श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय सम्पादक "ज्ञानोदय" बनारस, श्री कामता-प्रसादजी M.R.A.S. अलीगंज (एटा), श्री राजाराम जी बजाज अध्यक्ष श्री म. प्र. जैन युवक सभा एवम् कुन्डलपुर क्षेत्र कमेटी कुन्डलपुर, पं० जयकुमार जी सम्पादक—"वीर शासन", श्री रूपचन्दजी बजाज प्रचार मंत्री, श्री प्रकाशचन्द अध्यक्ष जैनसेवा दल दमोह, श्री० सुशीलकुमार दिवाकर सिवनी, श्री निर्मलकुमारजी चन्द्रकान्ता प्रेस, श्री सुरेशचन्दजी (बरगी), श्री सिंघई मोजीलालजी, श्री खूबचन्दजी, श्री घनश्यामदासजी मंत्री स्थानीय जैन नवयुवक सभा, श्री गुलाबचन्दजी मंत्री महावीर जैन पुस्तकालय जबलपुर व जिन बन्धुओं ने सक्रिय योग प्रदान किया है उन समस्त बन्धुओं को सभा द्वारा अनेकानेक धन्यवाद।

भवदीय—

**स. सि. सुरेशचन्द्र जैन,**

[मंत्री, श्री मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा,]

रक्षाबन्धन,
सम्राट चंद्रगुप्त साहित्यसदन



—भारत के सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक जैन संत—

**श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज**

का संदेश—

"परोपकार करने वालों के प्रति कृतज्ञता प्रगट
करना अति उत्तम है"।

श्रमण संस्कृति और कला—



मुनि कान्तिसागर महाराज

सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एवं दर्शन् शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान

सम्पादक—"ज्ञानोदय" बनारस

# "श्रमण संस्कृति और कला" पर प्राप्त सम्मतियाँ—

## श्री डॉ० रामकुमार वर्मा (प्रयाग)—

श्री मुनि कान्तिसागर द्वारा लिखित "श्रमण संस्कृति और कला" की प्रति देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भारतीय सस्कृति के निर्माण में श्रमण सस्कृति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि यह कहा जाय कि वह सस्कृति के विकास में सधि स्थल की एक मजबूत कडी है तो अत्युक्ति न होगी। श्री मुनिकान्तिसागर जी ने अपने गहन अध्ययन, निरीक्षण और अनुशीलन से इस सम्बन्ध में जो विपुल सामग्री भेंट की है वह स्थायी महत्त्व की है। मुझे विश्वास है इस दिशा में वे और भी प्रयत्नशील रहेंगे और हिन्दी साहित्य की वृद्धि करेंगे।

साकेत, प्रयाग<br>४-१२-५१

रामकुमार वर्मा<br>एम० ए०, पी एच० डी

## श्री बाबूराम सक्सेना (प्रयाग)—

श्री मुनि कान्तिसागर जी की पुस्तक "श्रमण सस्कृति और कला' के कुछ छपे फर्मे मैंने देखे। जैन साहित्य और सस्कृति की भारतीय कलाओं के प्रति क्या देन है? इस विषय का इसमें अच्छा प्रतिपादन किया गया है और विविध कलाओं का इतिहास भली प्रकार दिखाया गया है। मुनि जी के निर्णयों के बारे में मतभेद संभव हैं परन्तु उससे पुस्तक की उपादेयता में कोई क्षति नहीं होती। भाषा सामान्य पाठक के लिए भी सुबोध है। आशा है हिन्दी जनता इस ग्रन्थ का आदर करेगी।

प्रयाग<br>५-११-५२

बाबूराम सक्सेना<br>एम० ए०, डी० लिट्०

## श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय—

(सम्पादक "ज्ञानोदय" बनारस)

अपने जीवन और व्यक्तित्व को इतना महान् और निर्मल बनाओ कि तुमको देखने से लोग जैन धर्म की महानता और निर्मलता का अनुमान लगा सकें। जिस धर्म के अनुयायी जितने उच्च होंगे, उस धर्म की ऊँचाई उतनी ही आंकी जायगी।

३० नवम्बर, १९५१ } अयोध्याप्रसाद गोयलीय

## श्री सुमेरचन्द दिवाकर (सिवनी)—

मानव समाज का शाश्वतिक कल्याण अहिंसा और अनेकान्त की साधना में है। इनके प्रचार में यह तरुण मण्डल उद्योग करे, तो श्रेयस्कर होगा।

दिवाकर सदन सिवनी, ३१ मार्च, १९५२ } सुमेरचन्द दिवाकर

## श्री वासुदेव विष्णु मिराशी (नागपुर)—

(प्रान्त के सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता)

श्री मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा का जो कुछ कार्य मैंने देखा उससे मुझे बहुत आनन्द हुआ। हमारे देश में नवयुवकों का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट हुआ है। यह बहुत सौभाग्य है। मैं उनके प्रयत्न यशस्वी होंगे, ऐसी हार्दिक आशा करता हूँ।

१७-४-५२ } वासुदेव विष्णु मिराशी

## श्री कुँजीलालजी दुबे एडवोकेट—

मध्यप्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष,
उपकुलपति, नागपुर विश्वविद्यालय

भारत के सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता व अनुसन्धानक मुनि कान्तिसागर का "श्रमण संस्कृति और कला" नामक ग्रन्थ मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा द्वारा प्रकाशित किया गया है। इस ग्रन्थ में श्रमण संस्कृति, प्राचीन संस्कृति व ऐतिहासिक सामग्री का अच्छा संकलन है। मुनिजी का यह प्रयास भारतीय संस्कृति के विकास में विशेष योग प्रदान करेगा।

२-१२-५१ }
जबलपुर }

कुँजीलाल दुबे

## श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह—

[ भू० पू० अध्यक्ष, प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन ]

"श्रमण संस्कृति और कला" नामक ग्रन्थ मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा द्वारा प्रकाशित किया गया है। ग्रन्थ श्रम पूर्वक लिखा गया है। भारतीय संस्कृति को उच्चासन पर स्थापित करने में सहायक होगा। श्रमण संस्कृति भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है।

व्योहारबाग }
२७-११-५१ }

व्योहार राजेन्द्रसिंह

## श्री भवानीप्रसाद तिवारी—

[ मेयर नगर निगम, जबलपुर ]

मुनि कान्तिसागर के पुरातत्व सम्बन्धी लेख, निबन्धों ने भारतीय संस्कृति के ज्ञान भंडार की अभिवृद्धि की है। जो इन्हें पुस्तक का रूप देकर जनता के समक्ष आ सकने की सुविधा दे रहे हैं वे धन्यवाद के पात्र हैं।

२८-११-५१ }
जबलपुर }

भवानीप्रसाद तिवारी

# दो-शब्द

आज भारतीय समाज राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों में उलझा हुआ है। मानव जीवन राजनीति और सांपत्तिक विषयों तक ही सीमित नहीं है। मानव जीवन में सांसारिक उन्नति जितने महत्व की है, उससे कहीं अधिक महत्व आध्यात्मिक उन्नति को. श्रमण संस्कृति देती है, किन्तु कुछ अंशों में आध्यात्मिक उन्नति भी तो सांसारिक जीवन की उच्चता पर निर्भर है। अतएव देश की राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का हल होना अति आवश्यक है, जिससे मानवता दैनिक सासारिक क्रन्दन से मुक्त होकर सत्यता और संस्कृति के आदर्श अपनाकर निष्कामवृत्ति में, ज्ञान की खोज में, संलग्न होते हुए जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

किन्तु संसार की वर्तमान परिस्थितियों में भी जिनवाणी माता की अर्चना में, ज्ञान की खोज मे, सत्य की शोध में जो प्रयत्न हो रहे हैं वे सराहनीय हैं। उत्थित दार्शनिक बुद्धि बल ही मानवता का कल्याण कर सकेगा। हम भविष्य का अतीत के समीचीन तत्वों की भित्ति पर ही निर्माण कर सकते हैं। अतएव अतीत काल के ज्ञान का संचय करना हमारा सर्व प्रथम आवश्यक कर्त्तव्य होता है। भारत के अतीत की गौरवगाथा असीम है। हमारा मत है कि उसकी प्राचीन संस्कृति, उसका प्राचीन ज्ञान आज भी मानवता के लिए आदर्श है। बड़े परिताप की बात है कि बहुतेरे ऐतिहासिक अनुसन्धानों के उपरान्त भी हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत आज भी अपूर्ण है। प्राचीन भारत के साहित्य, इतिहास, कला आदि विषयों का ज्ञान आज उपलब्ध है उसका श्रेय कुछ एक भारतीयों को होने के

साथ ही जर्मन आदि विदेशी अनुसन्धाताओं को विशेषतया मिलना चाहिये। भारतीयों को आर्थिक और राजनतिक समस्याओं के साथ-साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के अन्वेषण की ओर भी विशेष लक्ष्य देना चाहिए। उसके आधार पर ही वर्तमान भारत के सुन्दर निर्माण का स्वप्न सजीव किया जा सकता है।

प्राचीन भारत में जैन संस्कृति और जैन साहित्य का विशेष स्थान था। भारतीय मानव जीवन के उत्थान में इनका पूर्ण हाथ रहा। जैन संस्कृति आज लुप्त प्राय सी है, जैन साहित्य अन्वेषण की बाट जोह रहा है। वर्तमान समय एक ऐसा समय है कि जैन संस्कृति, धर्म आदि का प्रचार बड़ी सुन्दरता के साथ किया जा सकता है। ज्ञान उपलब्ध करने के दो ही मार्ग हैं—या तो शास्त्रों के मतों को समझा जावे अन्यथा अनुसन्धान द्वारा वास्तविक इतिहास की सृष्टि की जावे। वर्तमान संसार भावप्रधान दार्शनिक शास्त्रों के ज्ञान की अपेक्षा तर्क प्रधान सर्वाङ्गीण इतिहास से पूर्वकालीन भारत का ज्ञान प्राप्त करने की आशा रखता है।

इतिहास के अनेक महत्वपूर्ण साधनों में—जैसे कि प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्कों के अतिरिक्त—पुरातत्त्व की उपेक्षा अर्थात् पुरातन खण्डहरों में स्थित मूर्तिएँ, मन्दिर, स्तम्भ, स्तूप आदि शिल्पकलात्मक पाषाणों की उपेक्षा कदापि, किसी भी अवस्था में नहीं की जा सकती। प्राचीन महापुरुषों को अतीत काल में जो स्थान था, वास्तविक परिचय इन पाषाण-स्थित कलाओं से हो सकता है। मानव मस्तिष्क की उन्नत विचारधारा का प्रवाह तात्कालिक शिल्पियों ने इतने सुन्दर ढंग और अपने हस्त-कौशल से पाषाणों पर प्रवाहित—उत्कीर्णित किया है, जो आज भी संसार को आश्चर्यान्वित किये बिना नहीं रहता।

पुरातत्त्व अन्वेषण में छोटी-छोटी वस्तुएँ खोज आदि भी बहुत महत्त्व रखती हैं। यह अवश्य है कि अधिकतर इनका तात्कालिक महत्त्व नहीं होता,

क्योंकि कभी कभी एक ऐतिहासिक अनुसन्धानक की छोटी सी बात भी किसी सम्बन्ध विशेष निकल आने पर इतनी महत्त्वपूर्ण साबित होती है कि बड़े-बड़े तद्विदों को अपना मत परिवर्तन करने को बाध्य करती है।

श्रमण संस्कृति आध्यात्मिक विकास में ही विश्वास करती है, पर उसका अध्यात्मवाद एकांगी न होकर समाज मूलक है। स्वस्थ सौंदर्य की उपासना करने में श्रमण संस्कृति के अनुयायी सापेक्षतः अधिक सफल हुए हैं, क्योंकि उनके जीवन की साधना ही तदनुकूल है। नियम और संयम ही सौंदर्य बोध के सोपान हैं। आत्मस्थ सौंदर्य भावना को श्रमण संस्कृति ने रूपदान दे–दिलवाकर भारतीय लोक जीवन की अखण्ड परम्परा का आदर्श उपस्थित किया है।

प्रस्तुत् कृति ३ निबन्धों का संग्रह है। ये भिन्न भिन्न समय में मासिक के लिये लिखे गये थे वस्तुतः देखा जाय तो ये तीनों एक ही शृङ्खला में बंधे हुऐ हैं ! श्रमण संस्कृति के इतिहास से स्पष्ट अवगत होता है कि वह कला के प्रति प्रारम्भिक काल से बड़ी सजग रही है। प्रत्येक कलाकृति का अंतिम लक्ष्य है सौंदर्य बोध, एवं तदद्वारा आत्मस्थ सौंदर्य की प्राप्ति, चाहे सौंदर्य का माध्यम गतिशील हो या स्थतिशील हो। प्रस्तुत कृति में केवल, स्थितिशील शाखा का संकेतात्मक परिचय है। ये निबन्ध पुस्तक के रूप में न लिखे गये थे एवं न मासिक पत्रों में प्रकाशित होने के बाद इनमें संशोधन ही किया जा सका।

"जैन पुरातत्व तो नोट का निबन्ध है। जब मैं अनेकांत का सह-सम्पादक बनाया गया, तब मेरे मन में आया कि जैन पुरातत्व की शाखाओं का विभाजन कर उन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखी जाय। शुरू में तीन पृष्ठ में वह टिप्पणी हुई। जब तीसरी बार प्रति लिपि तैयार हुई तो उसका क्रम निबन्ध के समान हो गया। अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक बार और 'विस्तृत" करूँ। अभी तो यह आशा ही है।

जैन मूर्ति कला का प्रामाणिक इतिहास अध्यावधि अज्ञात है, क्योंकि कुछ ग्रन्थ इस विषय पर प्रकाशित भी हुए हैं परन्तु अभी भी अन्वेषणीय पर्याप्त तत्व अपेक्षित होने के कारण निश्चित तथ्य पर पहुँचना कठिन है। प्रथम बात यह है कि जैन मूर्तियों को एव उनके प्रतिमा शास्त्रानुकूल लक्षणों को समझने में अजैन विद्वानों ने समझ लेने में भारी भूलें की हैं। जिसके फलस्वरूप सुन्दर से सुन्दर कलात्मक जैन मूर्तिया बौद्ध घोषित कर दी गई या वे सदिग्ध ही रहीं। विद्वानों ने, इतिहास और पुरातत्व में रुचि रखने वाले जैन विद्वानों ने इस ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया। इसी कारण से आज भी कला एव वैविध्य युक्त सुन्दरतम जैन मूर्तिया तथा कलात्मक प्रतीक झाडी जगलों में उपेक्षित एव अरक्षित दशा में पडी हैं।

धातु मूर्तियों का इतिहास एवं सौंदर्य प्रस्तर मूर्ति की अपेक्षा अधिक स्थाई व महत्वपूर्ण है। यद्यपि धातु मूर्तियां प्राचीनता की दृष्टि से प्रस्तर की अपेक्षा अत्यल्प उपलब्ध हुई हैं पर सौन्दर्य की दृष्टि से देखें तो धातु शिल्प अधिक आकर्षक व प्रेरक बन पडा है। आज तक यह कहा जाता था कि जैनियों की मूर्तियाँ बडी बेसूरत होती हैं। परन्तु अभी अभी कुछ प्राचीन जैन धातु शिल्प प्रतीक बडौदा राज्य में उपलब्ध हुए हैं। वे न केवल भारतीय प्रतिमा कला को ही उज्वल करते हैं, अपितु भारतीय प्राचीन मूर्ति कला एव उसके क्रमिक विकास में जैनों का कितना योग था इसका भी आभास उपर्युक्त प्रतिमाओं से होता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि जिस समय श्रमण सस्कृति की एक शाखा बौद्ध सस्कृति के केन्द्र नालन्दा में उत्कृष्ट धातु मूर्तियाँ ढाली जाती थीं, उसी समय गुजरात के कलाकार उच्च कोटि के धातु शिल्प निर्माण में पूर्णतया अनुरक्त थे। जैसा कि बडौदा राज्य से प्राप्त जैन धातु मूर्तियों से अवगत होता है।

इन अवशेष की प्राप्ति से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त काल में न केवल बौद्ध मूर्ति कला ही उन्नत थी अपितु जैन कला भी सापेक्षत उन्नति के

शिखर पर थी। प्राप्त धातु मूर्तियों में इनका स्थान सर्वाग्रह है।

इन प्रतिमाओं की कला परम्परा की शृङ्खला नालंदा की मूर्ति कला एवं अजंता की चित्र परम्परा से जोड़ी जा सकती है। भाव लावण्य एवं सौंदर्य की दृष्टि से यदि इसको देखें तो स्पष्ट विदित होगा कि नालंदा एवं कुरिकिहार की धातु मूर्तियों की शैली से कहीं अधिक प्राचीन एवं स्वतन्त्र है। परन्तु इस कल्पना को बल तब ही मिल सकता है जब इस पर विस्तृत व उचित अनुसन्धान किया जाय।

जैनाश्रित मूर्तिकला के विषय में प्राचीन भेदों को लेकर जो वैभिन्य दृष्टिगोचर होता है इसका भी समावेश मैं इसमें भी नहीं कर सका हूं।

स्थितिशीलकला की दूसरी शाखा चित्रकला है इसके विकास में भी श्रमण परम्परा का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। चित्रकला के अनुसन्धाताओं का मत है कि भारतीय चित्रकला के मुगल पूर्व कालीन चित्रों को यदि किसी ने सम्हाला है तो वह जैनो ने। मैं स्पष्ट कर दूँ कि जैनाश्रित चित्रों की यह परम्परा न केवल एकांगी एवं धर्माश्रित ही थी अपितु उसमें भारतीय जन-जीवन के साथ प्रान्तीय लोक जीवन के मूल्यवान तत्व भी चमकते हैं। सौन्दर्य के बहुमूल्य दृष्य एवं नृत्य कला की आवश्यक मुद्रायें भी पाई जाती हैं। साथ ही निरपेक्ष सौन्दर्य का सृष्टि करने वाले सिद्धान्तिक तत्व भी सन्निहित हैं।

पश्चिम भारतीय एवं उत्तर भारतीय कला सम्प्रदायों के क्रमिक इतिहास को एव भारतीय भित्ति चित्रों की सुदृढ़ परम्परा के सिद्धांतिक तत्वों के क्रमिक विकास को समझने के लिये पश्चिमीय भारतीय जैन भंडारों में पाये जाने वाले जन चित्रों का अन्वेषण अत्यन्त वांछनीय है। भारतीय मूर्ति कला का इतिहास तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक जैनाश्रित चित्रों का उचित अन्वेषण नहीं हो जाता।

इस दिशा में जितने भी प्रयास आज तक हुए हैं उनमें साराभाई नवाब ( अहमदाबाद ) का स्थान महत्वपूर्ण है। आपने सम्पूर्ण भारतवर्ष के सार्वजनिक व वैयक्तिक ग्रंथ चित्रों का अध्ययन व अन्वेषण कर उसके समुचित संरक्षण का भी आवश्यक प्रबन्ध किया है। जैसलमेर के ताडपत्रों पर चित्रित चित्रों का एक संग्रह मुनिराज श्री पुण्य विजय जी द्वारा ही प्रगट हुआ है। "जैसलमेर की चित्र समृद्धि"।

दक्षिण एवं उत्तर भारतीय जैन ग्रंथ भंडारों का अभी तक चाहिये वैसा अनुसन्धान नहीं हुआ। आशा है तत्रस्थ विद्वान एवं कलाकार इस उपेक्षित दिशा को अंधकारमय न रखेंगे।

श्रमण संस्कृति और कला यह कोई स्वतंत्र कृति नहीं परन्तु उसकी पूर्व भूमि का अंशमात्र है। इस प्राथमिक प्रयास में जो असफलतायें हुई हैं वे मेरे ध्यान से बाहर नहीं हैं। आवश्यक चित्रों का अभाव पाठकों को खटके भी परंतु इसका प्रकाशन ऐसे संयोग में हुआ कि यह सब सीमित साधन एवं समय की अवधि में सम्भव न था। यदि मध्यप्रदेशीय जैन युवक सभा के उत्साही एवं कर्मठ मंत्री श्रीयुत स० सिं० सुरेशचन्द्रजी जैन आदि तरुणों ने इसके प्रकाशन में पूरा योग न दिया होता तो इसका प्रकाशन भी सम्भव न था। ये निबंध यों ही बिखरे पड़े रहते।

सालेकसा
ता २६ मार्च, १६५२

मुनि कान्तिसागर



# अनुक्रमणिका—

# श्रमण संस्कृति



श्रमण-संस्कृति के विषय में आज के कुछ विद्वानों में कितना अज्ञान फैला हुआ है, इसका ताजा अनुभव मुझे हाल ही में हुआ। एक दिन मेरे एक अनुभवी मित्र ने पूछा कि श्रमण-संस्कृति क्या बला है? उनका मत था कि यह तो बिलकुल नयी धारा है। इस प्रकार आज के युग में भारतीय संस्कृति को मजबूत करने के बजाय नयी नयी धाराओं का समर्थन करना एक प्रकार से प्राचीन काल से बहती हुई धारा के प्रति अन्याय करना है। मुझे उनके इन शब्दों ने आश्चर्य में इसलिए डाल दिया कि वे आधुनिक अर्थ में न केवल शिक्षित ही थे, अपितु शिल्प-स्थापत्य कला के कुछ अंगों में उनकी गति भी थी। परन्तु मुझे ऐसा लगा कि संस्कृति के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण संकुचित था और उनकी ध्वनि से कुछ ऐसा भी प्रतीत हो रहा था, जैसे वे मुझ से मनवाना चाहते हों कि संस्कृत साहित्य आदि में वर्णित वैदिक संस्कृति ही-आर्यों की संस्कृति है। प्रगतिशील युग में इस प्रकार की बातों को कोरी भावुकता के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है? यों तो संस्कृति जैसे व्यापक शब्द को साम्प्रदायिक बंधनों में बाँधने का वैसा ही नतीजा होगा जैसा कि भारतीय शिल्प और चित्रकला के कुछ आलोचकों ने प्रारंभिक-काल में सम्प्रदायों के साथ कला को बाँधा था। जैसे जैन कला, बौद्ध कला, ब्राह्मण कला आदि। कला की अपेक्षा संस्कृति कहीं अधिक व्यापक है। अतः मेरे विचार में संस्कृति को सीमित करना उचित नहीं-अच्छा तो यही होगा कि उसे हम मानव-

संस्कृति के रूप में स्वीकृत करें। महामानवता के प्रकाश में ही विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं को देखें। सम्भव है प्राचीन सामंतवादी युग में धर्म-मूलक या वर्ग-मूलक जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों ने अपने अपने साम्प्रदायिक अंध कूप में संस्कृति को उतारा होगा और सामंतवादी शासकों के काल में वह व्यवस्था पनपी भी होगी। वह काल जातिवाद और व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित था। परन्तु आज की परिस्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। जिस युग में आज हम जीवनयापन कर रहे हैं वह संस्कृति के नाम पर, धर्म के नाम पर, सम्प्रदायों के नाम पर लड़ने का नहीं परन्तु, समन्वय का है। लड़ना हो तो उन तत्त्वों से युद्ध किया जाय, जो मानवीय जीवन को असांस्कृतिक धाराओं में डुबा रहे हैं। आज की मानवता पर जो पशुता की पतली चादर पड़ी हुई है और वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक का दूसरे द्वारा जो अमानवीय शोषण होरहा है, इन प्रवृत्तियों को समूल नष्ट कर सच्चे अर्थों में मानव बने, तब तो हमारा सांस्कृतिक और नैतिक युद्ध सार्थक होगा। यहाँ पर प्रासंगिक रूप से एक बात का स्मरण दिलाना आवश्यक है कि इस नव निर्माण के युग में हम श्रमण-संस्कृति या ऐसी ही कोई चीज जनता पर जबर्दस्ती लादना नहीं चाहते, क्योंकि किसी भी प्रकार की उन्नत से उन्नत विचारधारा भी जनता के सर मजबूरी से थोपी नहीं जा सकती। जनता स्वयं सुन्दर, पोषक और उन्नतिशील तत्त्वों को समझ कर स्वतः अपना लेती है, वही क्रमशः समष्टयात्मक रूप धारण कर आगे के लिए एक परम्परा बन जाती जाती है।

समस्त प्राचीन नैतिकता की परम्पराएं उपयुक्त ही हैं और भावी जीवन निर्माण में सहायक होती ही हैं, ऐसा सर्वांशतः प्रतीत नहीं होता। परम्परा और नैतिकता का प्रश्न काल के साथ बँधा होता है। यद्यपि संस्कृति के मौलिक तत्त्व समान होते हैं, फिर न केवल काल-भेद से उसमें परिवर्त्तन करना पड़ता है अपितु परिस्थितिवश स्वयं हो जाता है। इन पंक्तियों में यही महा सत्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कोई भी प्रगतिशील विचारक यह नहीं

मान सकता कि किसी विशिष्ट समय में निर्धारित नियम शाश्वत होकर शताब्दियों तक मानवता का पथ-प्रदर्शन करते ही रहे।

भारत एक महादेश है। यहाँ समय समय पर बाहर से अनेक जातियाँ आयीं और बस गयीं। इसे अपना निवास-स्थान बनाया। उनके अपने आचार-विचार, रीति-रिवाज थे। अत सम्पूर्ण भारत का सर्वाङ्ग-पूर्ण सास्कृतिक दृष्टि से तब ही अवलोकन किया जा सकता है जब कि हम यहाँ पर निवास करने वाली विभिन्न तम जातियों के विविध-रगी जीवन का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करें। इस भावना से उत्प्रेरित होकर ही श्रमण सस्कृति के सम्बन्ध मे दो बातें कहनी हैं। और यथा सम्भव यह भी देखना है कि मानव-सस्कृति के विकास में श्रमण-सस्कृति का कितना योग रहा है, क्योंकि यह भी भारतीय आर्य-सस्कृति की एक ऐसी धारा है जिसने मानव ही नहीं, परन्तु प्राणीमात्र के सार्वभौमिक सुख के लिए अमानवीय तत्त्वों से शताब्दियों तक सघर्ष कर अहिंसक क्रांति की, एव मानवता तथा सस्कृति के नाम पर सामतवादी युग में वैयक्तिक स्वार्थ पोषक व्यक्ति या समाज के जीवन में पनपने वाले अमानवीय तत्त्वों से लड़ी, पर मरी नहीं। प्रत्येक देश की सस्कृति का इतिहास हमें स्पष्ट बतलाता है कि सघर्ष काल मे ही सस्कृति का समुचित विकास होता है।

भारतीय कला औा साहित्य के मनीषियों के लिये श्रमण सस्कृति कोई नई धारा नहीं बल्कि कहना चाहिए कि मानव-सस्कृति का ही एक पवित्र सस्करण है। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रमण सस्कृति का आदि प्रतिष्ठाता कौन था? ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। परन्तु अद्यतन युग में जो साहित्यिक कड़ियाँ हमारे सम्मुख उपस्थित है उनमें कुछ पौराणिक आख्यान ऐसे पाये जाते हैं जिनसे हम अतीत की झाँकी प्राप्त कर सकते हैं। इन उपलब्ध पौराणिक साधनों के आधार पर तो इतना ही कहा जा सकता है कि इसके प्रथम नेता ऋषभदेव थे। बाद के

तीर्थंकरों ने इस धारा को आगे बढ़ाया। परन्तु विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से विना किसी हिचक के कहा जा सकता है कि भगवान् नेमिनाथ श्रमण संस्कृति के ऐसे स्तम्भ थे जिन्होंने भागवत धर्म के समय में भी अहिंसा-मूलक भावना को अपने जीवन में साकार किया था। पार्श्वनाथ ने (ई० पू० ८००) अपनी महान् सांस्कृतिक साधना का परिचय बनारस में ही दिया था। अज्ञान-मूलक तप करते हुए कमठ तापस को इस बात का भी ज्ञान न रहा कि धूनी में झोके जाने वाले काष्ठ के साथ सर्प भी जल रहे हैं। पार्श्वनाथ जैसे समत्व की भावना के प्रचारक ने तापस को समझाकर दो प्राणी बचाये। यह प्रश्न केवल प्राणी बचाने का ही नहीं है बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व है, और इस बात का प्रमाण है कि उन दिनो संस्कृति एवं धर्म के नाम पर प्राणी-हिंसा भी त्याज्य न थी। "वेदविहिता हिंसा हिंसा न भवति" एवं कहीं कहीं क्षम्य भी थी। इस प्रकार वह अहिंसा ही संस्कृति की आत्मा है। हिंसामूलक प्रवृत्तियाँ संस्कृति नहीं, विकृति हैं। समत्व की भावना ही संस्कृति का बल है, जीवन है और शताब्दियों तक प्रवाहित रखने की अतुलनीय शक्ति है।

आर्यों का मगध में संघर्ष हुआ था। वह किसके साथ था? ऐतिहासिको में यद्यपि इस विषय पर काफी मतभेद है, परन्तु वैदिक साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (प्रयाग विश्वविद्यालय) का अभिमत है कि आर्यों का वह संघर्ष श्रमण-संस्कृति के अनुयायियों के साथ था। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक संस्कृति का जिन दिनों भारत में विकास भी नहीं हुआ था उसके पूर्व भारत में श्रमण संस्कृति काफी विकसित हो चुकी थी। श्री षणमुखं चेट्टी ने भी अपने एक भाषण में कहा था कि भारत के जैनी ही यहाँ के मूल निवासी हैं। अस्तु।

ई० पू० छठीं शती के प्रथम चरण तक तो श्रमण संस्कृति जैन संस्कृति के ही रूप में पहिचानी जाती थी, परन्तु यहाँ से श्रमण संस्कृति की

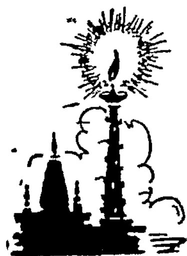
एकधारा बौद्ध धर्म के रूप में बही। जैन और बौद्ध दोनों के लिए श्रमण संस्कृति के रूप में एक ही शब्द व्यवहृत होने लगा। कारण कि दोनों परम्पराएं वेदविरोधी थीं। कुछ अंशों में श्रमण महावीर और बुद्धदेव प्राय समान विचार के थे। जैसे–समाज रचना या जगत् के समस्त जीवों के प्रति दृष्टिकोण दोनों के प्राय समान थे। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा के वे प्रबल विरोधी थे। मानव सस्कृति के विकास में अवरोधक वर्ण-व्यवस्था जैसी प्रथा इन दोनों को अभीष्ट न थी। वे जातिवाद के पुजारी न होकर गुणों के भक्त थे। अर्थात् उनकी दृष्टि में किसी उच्च जाति में उत्पन्न होने से ही कोई व्यक्ति आदरणीय स्थान प्राप्त नहीं कर सकता था और न निम्न जाति में उत्पन्न व्यक्ति अनादर ही। वे गुणाश्रित उच्चत्व-नीचत्व में विश्वास करते थे, जात्याश्रित में नहीं। भगवान् महावीर का अभिमत था कि उत्थान-पतन किसी अन्य व्यक्ति या शक्ति पर निर्भर नहीं, खुद ही के अधिकार में है। ईश्वर के नाम पर अपनी अकर्मण्यता को छिपाना और आत्मनिष्ठ शक्ति का विकास न करना ही घोर अज्ञान है। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय में भारतीय समाज विचित्र परिस्थिति से गुजर रहा था। पुरोहित वर्ग समाज पर अधिकार किये हुए था। यह सामंतवाद का भी स्तम्भ था। उभय विभूतियों ने इनका घोर विरोध कर स्वार्थ पोषक मनोवृत्तियों का मूलोच्छेद एवं वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का समर्थन सभी क्षेत्रों के लिए किया। उपर्युक्त विभूतियों ने श्रमण संस्कृति को उन दिनों अपने त्याग और तपस्या के बल पर मजबूत न किया होता तो न जाने मानवता की कितनी दुर्गति हुई होती। श्रमण संस्कृति के इतिहास में यह दूसरा संघर्ष-काल था और इसमें वह सफल भी हुई। यद्यपि इन दोनों विभूतियों का राजाओं पर प्रभाव अवश्य था, परंतु इनका उनसे तनिक भी वैयक्तिक स्वार्थ न था, अर्थात् इस राजसम्बन्ध के पीछे जनता के नैतिक और आध्यात्मिक विकास की भावनाएं काम कर रही थीं। बौद्ध और जैन श्रमणों ने जनता में अपने सांस्कृतिक तत्त्वों का प्रचार कर जातिवाद के नाम पर जो अंग अपना प्रभाव जमाये हुए था

उसका वैचारिक साधनों से घोर विरोध कर समाज का नव-निर्माण किया जिसका प्रभाव यों तो आज तक किसी न किसी रूप में बना है, पर इसका उन्नत काल मगध साम्राज्य के अंत तक ही समझना चाहिए।

श्रमण संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास ही भारतीय लोक जीवन का ज्वलन्त इतिहास है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि समय समय पर त्यागी श्रमणों ने अपने त्याग, संयम और समत्व की प्रबल भावना के द्वारा राजमहलों से लगाकर झोपड़ियों तक व्यक्ति-मूलक स्वतंत्रता का संदेश सुनाकर शताब्दियों तक श्रमण संस्कृति को जीवित रखा। जनता के जीवन में श्रमण संस्कृति के सार्वभौमिक तत्त्वों के प्रचार मात्र से श्रमण-गण चुप न रहे, परन्तु उन्होंने तो भारत की भावी संस्कृति के विकास के लिए भी अपनी अति उदार, पर व्यावहारिक संस्कृति के तत्त्वों को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि जनभाषाओं द्वारा सरल, सुबोध और सर्वग्राही बना कर साहित्यिक रूप प्रदान किया। इस कार्य में भी श्रमण गण बड़े उदार थे। भाषा के प्रति उनके हृदय में खास मोह न था। विद्वद्भोग्य भाषा में साहित्य-निर्माण करने के साथ ही लोक-भाषा में रचना करने में भी उन्होंने अपना अपमान नहीं समझा क्योंकि वे भाषा विषयक साम्राज्यवाद से परे थे।

भारतवर्ष की सांस्कृतिक शाखाओं में श्रमण संस्कृति ही एक ऐसी संस्कृति रही है जो न केवल विचार में ही उदार रही अपितु आचार में भी अन्यापेक्षया काफी आगे है। श्रमण परम्परा के अग्रज महावीर के संघ में चाण्डालों को भी वही स्थान प्राप्त था जो किसी राजकुमार को था। इसी समत्व मूलक उदार भावना के कारण ही शताब्दियों तक संघर्ष करते हुए जीवित रही। संत परम्परा के विकास के बीज भी श्रमण संस्कृति में ही विद्यमान हैं। साहित्यिक उल्लेखों से उपर्युक्त पंक्तियां और भी अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। किसी भी संस्कृति की समुचित उदारता का आभास उसके साहित्य की अपेक्षा आचार से अधिक मिलता है क्योंकि कहने को तो

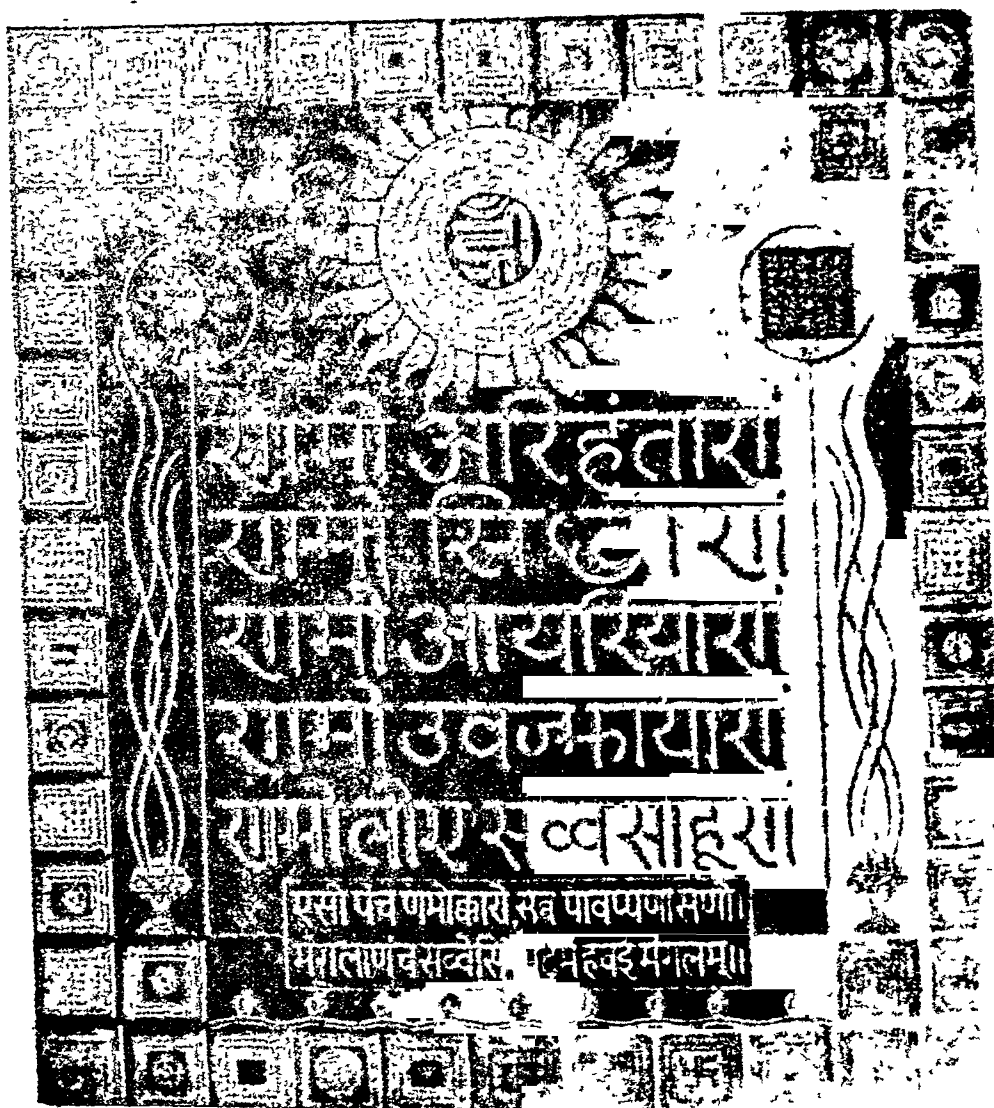
इतर संस्कृति के अनुगामी भी अपनी संस्कृति को परम और परमतर उदार सिद्ध करने में पश्चात्पाद नहीं रहते, परन्तु व्यवहार में शून्यवाद ही दृष्टि-गोचर होता है। उपर्युक्त पंक्तियों में मैं सूचित कर आया हू कि श्रमण संस्कृति में व्यक्ति प्रधान न होकर गुण ही प्रधान हैं। इस महती उदारता का प्रत्यक्ष उदाहरण जैनियों के दैनिक मंत्र में इस प्रकार पाया जाता है— णमो लोएसव्वसाहुणं—संसार के समस्त साधुओं को नमस्कार हो। तटस्थ पाठक सोच सकते हैं कि इस मंत्र के प्रणेताओं का हृदय कितना विशाल और मध्यस्थ भावना से ओत प्रोत था। गीता के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु य' पश्यति स पश्यति, स्वर्ण वाक्य भी श्रमण संस्कृति में ही साकार हुआ है। इन पंक्तियों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि "गुणा पूजा-स्थान गुणिषु न च लिङ्ग न च वय." का व्यावहारिक विकास उदार-चेता श्रमणों ने ही किया। जाति-पाँत और वेश-भूषा के क्षुद्र भेदभावों को भूल कर एक मात्र इस प्रकार गुण की उपलब्धि पर सर्वस्व समर्पित कर देना साधारण कार्य नहीं। जैन-बौद्ध-शाक्त आदि किसी भी मत के लिए श्रमणों को आग्रह नहीं था। न वेश-भूषा और युगकाडों के प्रति था। उनका मस्तक वहीं झुकता था जहाँ साधुत्व प्रतिबिम्बित होता था। यही आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का सोपान है।



* आत्म-प्रबोधक !

* आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का सोपान !!

* जैन धर्म का मूल मन्त्र !!!




पंच णमोकार मंत्र एवं भक्तामर के यंत्र-मंत्र सहित ४८ काव्य

## प्रास्ताविक—

आर्यावर्त की तक्षण कला के संरक्षण और विकास में जैन समाज ने उल्लेखनीय योग दिया है, जिसकी स्वर्णिम गौरव गरिमा की पताका-स्वरूप आज भी अनेकों सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला कौशल के उत्कृष्टतम प्रतीकसम पुरातन मन्दिर, गुफ़, प्रतिमाएँ, विशाल स्तम्भादि बहुमूल्यावशेष बहुत ही दुरवस्था में अवशिष्ट हैं। ये प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के ज्वलन्त दीपक-प्रकाश स्तम्भ हैं। अतीत इनमें अन्तर्निहित है। बहुत समय तक धूपछाँह में रहकर इन्होंने अनुभव प्राप्त किया है। वे न केवल तात्कालिक मानव जीवन और समाज के विभिन्न पहलुओं को ही आलोकित करते हैं, अपितु मानों वे जीर्ण विशीर्ण खण्डहरों, वनों और गिरि-कन्दराओं में खड़े खड़े अपनी और तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक परिस्थितियों की वास्तविक कहानी, अति गम्भीर रूप से, पर मूकवाणी में, उन सहृदय व्यक्तियों को श्रवण करा रहे हैं जो पुरातन प्रस्तरादि अवशेषों में अपने पूर्व पुरुषों की अमर कीर्तिलता का सूक्ष्मावलोकन कर नवीन प्रशस्त-मार्ग की सृष्टि करते हैं। यदि हम थोड़ा भी विचार करके उनकी ओर दृष्टि केन्द्रित करें तो विदित हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रत्येक समाज और जाति की उन्नत दशा का वास्तविक परिचय इन्हीं खण्डित अवशेषों के गम्भीर अध्ययन, मनन और अन्वेषण पर अवलम्बित है। मेरा मन्तव्य है कि हमारी सभ्यता की रक्षा और अभिवृद्धि में किसी साहित्यादिक अन्यापेक्षया इनका स्थान किसी भी दृष्टि से कम नहीं। साहित्यकार जिन उदात्त, उत्प्रेरक एवं प्राणवान भावों का लेखनी के सहारे व्यक्तीकरण करता है ठीक उसी प्रकार भाव जगत में विचरण करने वाला आनन्दोन्मत्त कलाकार पार्थिव उपादानों द्वारा आत्मस्थ भावों को अपनी सधी हुई छैनी से व्यक्त करता है। जनता को इससे सुख और आनन्द की उपलब्धि होती है।

एक समय था ऐसे कलाकारों का समादर सम्पूर्ण भारतवर्ष में, सर्वत्र होता था। मानव सभ्यता का प्रेरणाप्रद इतिहास कलाकारों द्वारा

ही सुरक्षित रह सका है। वे अपनी उच्चतम सौन्दर्य-सम्पन्न कलाकृतियों द्वारा जन जीवन-उन्नयन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अतः प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहास में इसका स्थान अत्युच्च है। जैनाचार्य श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी—जो अपने समय के बहुत बड़े दार्शनिक और प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार थे—ने अपने षोड़शप्रकरणों में कलाकारों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे भारतीय कला के इतिहास में मूल्यवान समझे जावेंगे। उनके हृदय मे कलाकारों के प्रति कितनी सहानुभूति थी, निम्न शब्दों से स्पष्ट है—

"कलाकार को, यह न समझना चाहिये कि वह हमारा वेतन-भोगी भृत्य है पर अपना सखा और प्रारम्भिकृत कार्य में परम सहयोगी मानकर उनको आवश्यक सुविधायें दे सदैव सन्तुष्ट रखना चाहिये, उनको किसी भी प्रकार से ठगना नहीं चाहिये। समुचित वेतन के साथ, उनके साथ ऐसा आचरण करना चाहिये जिससे उनके मानसिक भाव दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो ताकि उच्चतम कलाकृति का सृजन कर सके।"

## वास्तु कला—

ललितकला का वास्तुकला भी एक भेद है। शिल्पकला आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ सौन्दर्य का संवर्धन भी करती है। जिस प्रकार प्राणीमात्र की सम्वेदना का सर्वोच्च शिखर सङ्गीत है—ठीक उसी प्रकार शिल्प का विस्तृत और व्यापक अर्थ भवन निर्माण है। जनता में आम तौर पर शिल्प का सामान्य अर्थ ईंट पर ईंट या प्रस्तर पर प्रस्तर संजोकर रख देना ही शिल्प है, परन्तु वस्तुस्थिति की सार्वभौमिक व्यापकता के प्रकाश में यह परिभाषा भाव सूचक ज्ञात नहीं होती—अपूर्ण है। शिल्प की सर्वगम्य व्याख्या कला के समान सरल नहीं है।

प्रोफेसर मुल्कराज आनन्द ने शिल्प की परिभाषा यों की है—"शिल्प वही है जो निर्माण सामग्रियों द्वारा उच्चतम कल्पनाओं के आधारों

पर बनाया जाय। उस शिल्प को हम अद्वितीय कह सकते हैं जिसकी कला एव कल्पना का प्रभाव मनुष्य पर पड सके।"

उपर्युक्त दार्शनिक परिभाषा से सापेक्षत: कलाकार का उत्तरदायित्व बढ जाता है—"मनुष्य पर प्रभाव" और "प्राप्त सामग्रियों द्वारा निर्माण" ये शब्द गम्भीर अर्थ के परिचायक हैं। प्राप्त सामग्री अर्थात् केवल कलाकार के औजार एव ऐन्द्रियक साहित्यिक ग्रन्थ ही नहीं हैं अपितु उनके वैयक्तिक चरित्र शुद्धि की ओर भी व्यंग्यात्मक सकेत है। मानसिक चित्रों की परम्परा को सुनियन्त्रित रूप से उपस्थित करना ही कला है, जैसा कि समालोचकों ने स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में शिल्पी केवल मिस्त्री ही नहीं रह जाता अपितु सक्षम दार्शनिक एव कलागुरु के रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति में बिखरे हुए अनन्त सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है, कल्पनाओं के सम्मिश्रण से वह निःसीम सौन्दर्य को विभिन्न उपादानों द्वारा ससीम करता है। सौन्दर्य बोध 'स्व' आवश्यकता से 'पर' का पदार्थ है इसीलिये शिल्पी की मानसिक सन्तान को भी कला कहा गया है।

कल्पनात्मक शिल्प निर्माण में जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती है, वह अनुमानगम्य विषय है। जिनको प्राचीन खडहर देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है—यदि उनके साथ कला प्रेमी और कला के तत्वों को जानने वाले रहे हों तब तो कहना ही क्या—वे तल्लीन हो जाते हैं भले ही उनके मर्मस्पर्शी इतिहास से परिचित न हों। इन खडहरों एव ध्वस्त अवशेषों में कलाकार को सत्य का दर्शन होता है। तदनुकूल मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है तात्पर्य यह कि मानव संस्कृति के विकास और संरक्षण में जिनका भी योग रहा है उनमें शिल्पकार का स्थान बहुत ऊँचा है।

भारतीय वास्तुकला का इतिहास लें तो मानव विकास युग से मानना पडेगा, पर विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से कला समीक्षकों ने मोहन-जो-दडो एव हडप्पा से माना है। इस युग के पूर्व—जहाँ तक समझा जाता है—

बाँस, लकड़ी और पत्तों की झोपड़ियां का युग था। वह अधिक महत्त्वपूर्ण था। उस सामान्य जीवन में भी संस्कृति थी। जीवन सात्विक भावनाओं से ओत-प्रोत था। प्रकृति की गोद में जो वैचारिक-मौलिक सामग्री मिलती है उसे ही कलाकार जनहितार्थ कलूपकरण द्वारा मूर्ति रूप देता है। इस प्रकार दैनन्दिन वास्तुकला का विकास होता गया, परन्तु आज से तीन हजार वर्ष पूर्व की विकसित वास्तु प्रणाली के क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली मौलिक सामग्री अद्यावधि अनुपलब्ध-सी है। यद्यपि प्रासंगिक रूप से वेद, ब्राह्मण और आगम तथा जातिकों में संकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु वे जिज्ञासा तृप्त नहीं कर सकते। मोहन-जो-दड़ो एवं हरप्पा अवशेषों से ही सन्तोष करना पड़ रहा है। शिल्प द्वारा स्तुति का समर्थन एतरेय ब्राह्मण में होता है—आं शिल्पानी शसान देवशिल्पानि।"

शिशुनाग वंश के समय निःसन्देह भारतीय वास्तु प्रणालिका उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी, बल्कि स्पष्ट कहा जावे तो उन दिनों भारत और बेबीलोन का राजनैतिक सम्बन्ध के साथ कलात्मक आदान प्रदान भी होता था। जैसा कि आज भी बेबीलोन में भारतीय शिल्प कला से प्रभावित अवशेष पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। मौर्य, सुंग काल की कलाकृति एवं खण्डहरों के परिदर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों प्राणवान शिल्पियों की परम्परा सुरक्षित थी। यदि मानसार को गुप्त काल की कृति मान लिया जाय तो कहना होगा कि न केवल तत्काल में भारतीय तक्षण कला ही पूर्ण रूपेण विकसित थी, अपितु तद्विषयक साहित्य सृष्टि भी हो रही थी। यों तो विक्रम की प्रथम शताब्दी के विद्वान आचार्य पादलिप्तसूरि की निर्वाणकालिका से कुछ झाँकी मिल जाती है। ब्रह्मसंहिता में भी मूर्ति विषयक उल्लेख है। कवि कालिदास और हर्ष ने भी अपने साहित्य में ललितकला का उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में वास्तुशास्त्र का अन्तर्भाव हो ही जाना चाहिये। भले ही तद्विषयक पुष्ट-सिद्धान्त लिखित रूप में उपलब्ध

न हों तो भी अजन्ता, जोगीमारा पद्दुककोटा एव तदुत्तर-वर्तीय, या, ऐलोरा, चादवट, एलीफेन्टा आदि अनेकों गुफायें हैं, जो भारतीय तक्षण और गृह निमाण के सर्व श्रेष्ठ प्रतीक हैं। वास्तुकला का प्रवाह समय की गति और शक्ति के अनुरूप बहता गया, समय समय पर कलाविदो ने इसमें नवीन तत्त्वों को प्रविष्ट कराया मानो वह स्वकीय सम्पत्ति ही हो। निमाण पद्धति, औजार आदि में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। जब जिस विषय का सार्वभौमिक विकास होता है तब उसे विद्वान लोग लिपिबद्ध कर साहित्य का रूप दे देते हैं। जिससे अधिक समय तक मानव के सम्पर्क में रह सकें, क्योंकि कल्पना जगत के सिद्धान्तों की परम्परा तभी चल सकती है जब सुयोग्य एव प्रतिभा सम्पन्न उत्तराधिकारी मिलें।

## "जैन पुरातत्व"

पुरातत्त्व शब्द में अर्थ गाभीर्य है। व्यापकता है। इतिहास के निर्माण में इसकी उपयोगिता सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। भारतीय कलाकारों ने किसी भी प्रकार के उपादानों को अपनाकर कला नैपुण्य से उनमें जीवन का सञ्चार किया। आत्मस्थ-अमूर्त भावों को मूर्त रूप दिया—अत इस श्रेणी में आनेवाली कृतियों को, रूप शिल्पात्मक कृतिया कहें तो अनुचित न होगा। सगीत और काव्य में भावों की प्रधानता रहती है। इसमें भी वही बात है। आबू, देलवाडा, खजुराहो और ताजमहल किसी काव्य से कथमपि कम नहीं हैं। काव्य और सगीत से रूपशिल्प म हमें भले ही भिन्नत्व के दर्शन होते हो परन्तु भावगत एकत्व स्पष्ट है, भिन्नता केवल धर्मगत है। यहाँ पर मुझे ललित कला के सूक्ष्म और स्थूल भेदों की चर्चा में नहीं पडना। परन्तु इतना भी कहने का लोभ सवरण नहीं कर सकता कि उच्चकला वही है जिसके व्यक्तिकरण में यथासाध्य सूक्ष्म उपादानों का उपयोग किया जाय, उपादान में जितनी सूक्ष्मता होगी, कला भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। इस दृष्टि से पुरातत्त्व की कृतियाँ तीसरी श्रेणी में आती हैं। कारण कि इसमें भाव

व्यक्तीकरण के लिये बहुत मोटे आधार का सहारा लेना पड़ता है। इस कला से दो लाभ होते हैं। एक वह आध्यात्मिक उन्नति में सहायता करती है और दूसरी अपने युग की विशेषताओं को सुरक्षित रखती हुई भावी उन्नति का भी सूक्ष्म संकेत करती है। शाश्वत सत्य की ओर उत्प्रेरित करने वाली भाव-परंपरा आधार तो चाहेगी ही। इसमें ऐतिहासिक संकेत हैं। पार्थिव कला आध्यात्मिक प्राण से धन्य हो जाती है। न केवल वह आनन्द ही देती है पर शाश्वत सौंदर्य की ओर खींच ले जाती है। इसीलिये त्याग-प्रधान आदर्श पर जीवित रहने वाली श्रमण-संस्कृति में भी रूपशिल्प की परम्परा का जन्म हुआ।

जैन पुरातत्त्व का अध्ययन अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। अभी तक इस विषय पर समुचित प्रकाश डालने वाली सामग्री अंधकाराच्छन्न है। अजैन विद्वानों के विवरण हमारे सम्मुख हैं जो कई खंडहरों पर लिखे गये हैं। परन्तु वे इतने भ्रान्तिपूर्ण हैं कि उनमें सत्य की गवेषणा कठिन है, कारण कि जिन दिनों वह कार्य हुआ उन दिनों विद्वान् जैन-बौद्ध का भेद ही नहीं समझते थे—आज भी कम ही समझते हैं। अतः यह सम्मिश्रण अध्यवसायी विद्वान ही पृथक कर सकते हैं। जैनों ने कला के प्रकाश में कभी भी अपने उपकरणों को नहीं देखा। अजैनों ने इन्हे धार्मिक वस्तु समझा। परन्तु जैन तीर्थ मन्दिर और मूर्ति केवल धार्मिक उपासना के ही अंग नहीं हैं, परन्तु उनमें भारतीय जनजीवन के साथ कला और सौंदर्य के निगूढ़ तत्त्व भी सन्निहित हैं। विशुद्ध सौंदर्य की दृष्टि से ही यदि जैन पुरातन अवशेषों को देखा जाय तो, उनकी कल्पना, सौष्ठव और उत्प्रेरक भावनाओं के आगे नतमस्तक होना पड़ेगा। बिना इनके समुचित अध्ययन के भारतीय शिल्प का इतिहास अपूर्ण रहेगा। प्रसंगतः एक बात का उल्लेख मुझे कर देना चाहिये कि जैनों ने न केवल पूर्व परम्परा में पली हुई शिल्प कला और उनके उपकरणों की ही रक्षा की अपितु सामयिकता को ध्यान में रखते हुए, प्राचीन परम्परा को संभालते हुए नवीनतम भावना और

कलात्मक उपकरणों की सफल सृष्टि भी की। सामान्य वस्तु को भी सँजोकर कलात्मक जीवन का परिचय दिया। यद्यपि मंदिरों और गुफाओं को छोड़कर जैनाश्रित वास्तुकला के प्रतीक उपलब्ध नहीं होते हैं पर जो भी विद्यमान हैं वे उत्कृष्ट कला के प्रतीक हैं। उनमें मानवता का मूक सन्देश है। सौम्य और समान भाँव वाली परम्परा जैनाश्रित पुरातन अवशेषों के एक एक अंग में परिलक्षित होती है। इनकी कला केवल कला के लिये न होकर जीवन के लिये भी है। अरस्तू ने कहा है कि "उस कला से कोई लाभ नहीं जिससे समाज का उपकार न होता हो।" जैनाश्रित कला जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाती है। समत्व का उद्बोधन कर जनतंत्रात्मक विचार पद्धति का मूक समर्थन करती है। त्यागपूर्ण ये प्रतीक किसी भी देश के गौरव को बढ़ा सकते हैं।

## प्राचीनता—

जैन पुरातत्त्व का इतिहास कब से शुरू किया जाय ? यह एक समस्या है। कारण कि मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में जो अवशेष प्राप्त किये गये हैं उनमें कुछ ऐसे भी प्रतीक हैं, जिन्हें कुछ लोग जैन मानते हैं। जब तक वे निःसंशय जैन सिद्ध नहीं हो जाती तब तक हम जैन पुरातत्त्व के इतिहास को निश्चिततया वहाँ तक नहीं ले जा सकते। यद्यपि तत्कालीन एवं तदुत्तरवर्ती सांस्कृतिक साधनों का अध्ययन करें तो हमें उनके जैनत्व में शंका नहीं रहती। कारण आर्यों के आगमन के पूर्व भी यहाँ पर ऐसी संस्कृति थी जो परम आस्तिक और आध्यात्मिक भावों में विश्वास करती थी। वैदिक साहित्य के उद्भट विद्वान प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय तो कहते हैं कि वे लोग श्रमण संस्कृति के उपासक थे। इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है कि आर्यों को यहाँ आकर संघर्ष करना पड़ा था। काफी संघर्ष के बाद भी वे लोग आर्यों में मिल नहीं सके। कारण कि उनकी अपनी स्वतंत्र संस्कृति थी जो उनसे कहीं अधिक सबल और व्यापक थी। वह श्रमण संस्कृति ही होना चाहिये।

यहाँ पर प्रश्न यह उठेगा कि कुषाण और मोहन–जो–दड़ो की कड़ियों को ठीक से सँजोने वाली मध्यवर्ती सामग्री प्राप्त है या नहीं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है अभी पक्षपात रहित अन्वेषण ही कहाँ हुआ है ? बहुत से प्राचीन खंडहर भी खुदाई की राह देख रहे हैं। प्रत्यक्षतः इतना कहना उचित होगा कि कुषाण कालीन जो अवशेष मिले हैं, उनकी और मोहन–जो–दड़ो से प्राप्त सामग्री में, कलात्मक अंतर भले ही हो,—स्वाभाविक भी है,—परन्तु धर्मगत भिन्नता नहीं है। दोनों की भावना में मतद्वैध नहीं है। आदर्श में भी पर्याप्त साम्य है।[१] क्योंकि भारतीय शिल्प में कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जो विशुद्ध जैन संस्कृति की ही देन हैं—जैसे कि कायोत्सर्ग मुद्रा। प्राचीन जैन मूर्तियाँ अधिकतर इसी मुद्रा में प्राप्त हैं।

भारतीय कला एक प्रकार से प्रतीकात्मक है। प्रत्येक सम्प्रदाय वाले अपने अपने शिल्प में स्वधर्म मान्य प्रतीको का प्रयोग करते आये हैं। कुछ प्रतीकों में इतनी समानता है कि उन्हें प्रथक करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ त्रिशूल को ही लें। त्रिशूल तीनो गुणों पर विजय पाने का सूचक मानकर वैदिक संस्कृति ने अपनाया है। जैनों ने भी रत्नत्रय का प्रतीक माना है। कलिंग की जैन गुफाओं में भी त्रिशूल का चिह्न है। मोहन–जो–दड़ो में यही प्रतीक मिला है। धर्मचक्र का भी यही हाल है। जैन-बौद्ध कृतियों में अवश्य ही उत्कीर्णित रहता है।

यों तो जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य कला का इतिहास कुषाण काल से माना जाता है, क्योंकि इस युग की अनेक कला कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं। परन्तु उपर्युक्त अन्वेषण के बाद एक सूत्र नया मिला है, जो इसका इतिहास ३०० वर्ष और ऊपर ले जाता है।

जैन साहित्य में आर्द्रकुमार की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। वह अनार्य देश का रहने वाला था। मगध के राजवंश के साथ उसकी पारम्परिक मैत्री

---

१—विशेषज्ञातव्य के लिये "मोहन जो दड़ो की कला और श्रमणसंस्कृति" "अनेकान्त" वर्ष १० अंक, ११-१२।

थी। अभयकुमार ने इनको जिन प्रतिमा भिजवाई थी। बाद में वह भारत आता है और क्रमशः भगवान् महावीर के पास आकर श्रमण दीक्षा ग्रहण करता[1] है। डॉ० प्राणनाथ विद्यालकार को प्रभासपाटण से एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ था, इसमें लिखा है कि 'बेबीलोन के नृपति नेबुचन्द-नेजार ने रैवतगिरि के नाथ नेमि के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था[2]।" जैन साहित्य इस घटना पर मौन है। उन दिनों सौराष्ट्र का व्यापार विदेशों तक फैला हुआ था, अत उसी मार्ग से अधिकतर आवागमन जारी था। बहुत संभव है कि वह भी यहीं से आया हो और पूर्व प्रेषित जिनमूर्ति के संस्कार के कारण मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया हो। परन्तु इसके लिये और भी अकाट्य प्रमाणों की आवश्यकता है। हाँ बेबीलोन के इतिहास से यह अवश्य प्रमाणित होता है कि वहाँ पर जो पुरातन अवशेष-उपलब्ध हुए हैं उन पर भारतीय शिल्प का स्पष्ट प्रभाव है। वहाँ की न्याय प्रणालिका पर भी भारतीय-न्याय और दण्ड विधान की छाया है[3]।

उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व ६वीं शती में गिरिनार पर जैन मंदिर था। जूनागढ से पूर्व बावा प्यारा के नाम से एक मठ प्रसिद्ध है और वहाँ पर जैन गुफाएँ भी हैं। इन पंक्तियों का लेखक छुटपन में इन्हें देख चुका है।

मगध के शासक शिशुनाग और नन्द नृपति जैन धर्म के उपासक थे। भगवान् महावीर के माता पिता पार्श्व जिन की अर्चना करते थे। महामेघवाहन परमार्हत खारवेल के लेख से स्पष्ट है कि नन्दकाल में जिन

---

१—मुनि दीक्षा अंगीकार कर भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते समय हास्यबोध के भावों का प्रस्तर पर अंकन भी किया गया है। आबू की विमल वसही में आज भी सुरक्षित है।

२—टाइम्स आफ इण्डिया १९-३-३५

३—महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव ग्रन्थ पृ० ८०—४।

मूर्तियाँ थीं। ओरिसा में तो भगवान् महावीर के समय में ही जैनधर्म काफी ख्याति अर्जित कर चुका था[1]। बौद्ध धर्म का प्रचार वहाँ काफी बाद में हुआ।

खारवेल के लेख की अन्तिम पंक्ति में जीर्ण जलाशय एवं मंदिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। वहाँ पर उसी समय चौवीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएं बैठाई। लेखान्तर्गत जलाशय कपितड़ाग ही होना चाहिये। इसका उल्लेख बृहत्कल्पसूत्रमें आया है। वहाँ पर मेला लगा करता था। स्व० डा० वेनीमाधव वडुआ ने इसे खोज निकाला था। मरण के कुछ दिन पूर्व मुझे एक नक्शा भी वतलाया था, जो इस स्थान पर पर्याप्त प्रकाश डालता था।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती में निश्चयपूर्वक जिनमूर्तियों का अस्तित्व था। मौर्यकालीन जैन प्रतिमाएँ तो पटना के लोहानीपुर मुहल्ले से प्राप्त हो चुकी[2] हैं। सम्राट् सम्प्रति द्वारा भी लाखों मूर्तियाँ बनवाने की कथाएँ प्राचीन साहित्य में दृष्टिगत होती हैं।[3] उनमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह तो नहीं कहा जा सकता।

प्राप्त साधनों के आधार पर जैन पुरातत्व का इतिहास ईस्वी पूर्व ६०० से प्रारंभ करना समुचित जान पड़ता है। जैन संस्कृति

---

१—भगवान् स्वयं ओरिस्सा में विचरे थे—"ततो भगवं मोसलिंगओ.......... तत्थसुभागहो नाम रट्ठिओ पियमित्तो भगवओ सो मो हइ, ततो सामी तोसलिगओ" —आवश्यक सूत्र पृ० २१६–२२०।

२—जैन एन्टीक्वेरी भाग ३ अंक १।

३—कुछ प्राचीन मूर्तियों को लोगों ने सम्प्रति द्वारा निर्मापित मान रखा है, पर कला की दृष्टि से वे गुप्तकाल की भी नहीं जँचती। जो प्रस्तर व्यवहृत हुआ है वह उन दिनों की मूर्तिकला में नहीं मिलता। लम्बकर्ण, पद्मासन वार्डर, बगल से सम्बद्ध हाथ ये कुछ विशेषताएँ सम्प्रति की मानी जाती हैं।

के इतिहास और साहित्य से तो यह कल्पना की जा सकती है कि इस पूर्व मगध में जैनाश्रित कला विकसित रही होगी, कारण कि उन दिनों जैनों का यहां प्रभुत्व था, परन्तु इतनी प्राचीन कलात्मक सामग्री उस ओर नहीं मिलती। मथुरा मे अधिक मिलती है। कुषाण कालीन जैन मूर्ति कला का अनुपम रूप, आज भी प्राप्त अवशेषों मे परिलक्षित होता है। कुषाण के पूर्व स्तूप-पूजा का सार्वजनिक प्रचार था। अपने पूज्य पुरुषों के सम्मान में स्तूप बनवाने की प्रथा का सूत्रपात जैनों ने किया और बौद्धो ने इसे इतना अपना लिया कि उनकी मौलिक चीज के समान लगता है। जैन लोग इसे भूल गये। यहां पर स्मरण रखना चाहिये यद्यपि प्राचीन जैन स्तूप मथुरा मे ही अधिकतर मिलते हैं परन्तु मेरा विश्वास है कि मगध मे भी इस्वी पूर्व छठवीं शती में बना करते होंगे। भगवान महावीर के निर्वाण स्थान पर एक स्तूप बनवाये जाने का उल्लेख जैन साहित्य मे आता है। पावापुरी से एक मील की दूरी पर आज भी एक भग्न स्तूप विद्यमान है, लोगों का विश्वास है कि प्रभु का निर्वाण स्थान यही है। यहा पर स्तूप बनवाया गया था। परन्तु श्रद्धाजानी जैन समाज इस स्तूप को सर्वथा विस्मृत कर चुका है। यह स्तूप नि सदेह प्राचीन है। इसकी ईंटें राजगृह की ईंटों से मेल खाती है। शिल्प के उपकरण और शैली भी समान है। किसी समय यहां पर बहुत चौड़ा मैदान था पर जैनों की लापरवाही से खेत हो गये हैं। केवल स्तूप ही वर्तमान है। कला और अनुसन्धान प्रेमी यात्रियो को चाहिये कि इसकी सुधि लें[1]। इस ओर का प्रदेश जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से मूल्यवान है। हमारे तीर्थों में जो आमदनी

१—यहां के पारम्परिक व्यवस्थापक महोदय का ध्यान इस ओर मैंने आकृष्ट किया था, पर वे इसकी रक्षा के लिये इस कारण से पैर नहीं उठाते कि उनको भय है, कहीं ऐसा न हो कि वर्तमान मंदिर की अपेक्षा यात्रीगण की श्रद्धा इस ओर मुड़ जाय और यहां आमदनी कम हो जाय। अर्थजन्य स्वार्थ ने वास्तविक स्थान को प्रकाशावरुद्ध कर रखा है।

निर्भर रहना पड़ेगा, कारण कि जैनोंने जो शिल्पकला को प्रस्तरों पर प्रवाहित करने-कराने में जो योग दिया है उसका शतांश भी साहित्यिक रूप देने में दिया होता तो आज हमारा मार्ग स्पष्ट और स्थिर हो जाता। यों तो वाराह मिहिर[1] की संहिता में जैन मूर्ति का रूप प्रदर्शित है परन्तु जहां तक वास्तुकला का प्रश्न है, जैन साहित्य मौन है।

प्रसंगानुसार कुछ उल्लेख अवश्य आते हैं जिनका सम्बन्ध शिल्प के एक अंग प्रतिमाओं से है। यक्ष एवं यक्षिणियों के आयुध, स्वरूप आदि की चर्चा 'निर्वाणकालिका' में दृष्टिगोचर होती है। नेमिचंद का 'प्रतिष्टासार' आचार दिनकर( वर्द्धमानसूरिकृत ) और ठक्कुर फेरुकृत वास्तुसार" आदि कुछ ग्रन्थों के नाम लिये जा सकते हैं। परंतु इन ग्रन्थों के उल्लेख मूर्तिकला और मदिरादि निर्माण पर कुछ प्रकाश डालते अवश्य हैं, किन्तु बहुत कुछ अशों में माननार का स्पष्ट अनुकरण है। मंडन ने यद्यपि स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाये पर वे काफी बाद के हैं। जब जैन समाज में कला के प्रति स्वाभाविक रुचि न थी, केवल अनुकरण प्रवृत्ति का जोर था। समरांगण सूत्र, रूपमंडन और देवतामूर्तिप्रकरण जैसे ग्रन्थों से हमारा मार्ग अवश्य ही थोड़ा बहुत स्पष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठा विषयक साहित्य में भी कुछ सूचनाएँ मिल जाती हैं, वे भी एकांगी ही हैं। बारहवीं सदी के कुछ ग्रन्थो में चर्चा है[2] कि आर्य खपुट और उनौर वाचक उमास्वाति ने भी 'प्रतिष्ठा कल्प' की रचना की थी। परंतु आज तक उनकी ये कृतियां अंधकार के गर्भ में हैं। ऐसी स्थिति में जैनाश्रित—शिल्प-कला की कृतियो का अध्ययन बड़ा जटिल और श्रमसाध्य हो जाता है। समुचित साहित्य के प्रकाश के बिना शिल्प कला का अध्ययन बड़ा कठिन

---

१—आजानु लम्बबाहुः श्रीवत्सांकः प्रशान्तमूर्तिश्च
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतादेवः॥

२—गणधर सार्द्धशतक वृत्ति में।

हो जाता है। एक तो विषय भी आसान नहीं, तिस पर आवश्यक साधनों का अभाव। साहित्य में प्रकाश की आशा छोड़कर कलात्मक कृतियों के प्रकाश में ही हमें अपना मार्ग खोजना होगा। विषय कठिन होते हुए भी उपेक्षणीय नहीं है। श्रम और बुद्धिजीवी विद्वान ही इन समस्याओं को सुलझा सकते हैं।[१]

आज भी गुजरात काठियावाड में सोमपुरा नामक एक जाति है जिसका प्रधान कार्य ही शास्त्रोक्त शिल्प विद्या के संरक्षण एवं विकासपर ध्यान देना है। ये जैन शिल्पस्थापत्य के भी विद्वान् और अनुभवी हैं। इन लोगोंकी मददसे एक आदर्श जैन शिल्पकला- सम्बन्धी ग्रन्थ अविलम्ब तैयार हो ही जाना चाहिये। इसमें इन बातोंका ध्यान रखा जाना अनिवार्य है कि जिन जिन प्रकार के शिल्पोल्लेख साहित्य में आये हैं वे पाषाण पर कहाँ कैसे और कब उतरे हैं, इनका प्रभाव विशेषत किन किन प्रान्तों के जैन अवशेषों पर पड़ा है, बाद में विकास कैसे हुआ, अजैन से जैनों ने और जैन से अजैन कलाकारों ने क्या लिया दिया आदि बातों का उल्लेख सप्रमाण, सचित्र होना चाहिये। काम निःसन्देह श्रमसाध्य है पर असम्भव नहीं है, जैसा कि अकर्मण्य सोच बैठते हैं।

जैनाश्रित शिल्पकला कृतियों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

---

१—परिस्थितियों पर विचार करने के बाद यह प्रश्न तीव्रता से उठता है कि जैन शिल्पकला का इतिहास क्यों नहीं ? जब प्रतीक मौजूद हैं तो इतवृत्त अवश्य चाहिये। जैन विद्वानों को गम्भीरता से सोचकर एक ऐसी समिति नियुक्त कर देना चाहिये, जो इसका अनुशीलन प्रारम्भ कर दें। इलाहाबाद के डा० प्रसन्नकुमार आचार्य और पटनावाले डा० तारापद भट्टाचार्य भारतीय शिल्पस्थापत्यकला और एतद्विषयक साहित्य के गम्भीर विद्वान् हैं। इन से भी लाभ उठाया जा सकता है।

१ प्रतिमा ।
२ गुफा ।
३ मन्दिर ।
४ मानस्तम्भ ।
५ इतर भाव-शिल्प ।
६ लेख ।

## १—प्रतिमा

जैन पुरातत्व की मुख्य वस्तु है मूर्ति । जैन साहित्य में इसकी अर्चना का विशद् वर्णन है । परन्तु उपलब्ध मूर्तियों का इतिहास ईस्वी पूर्व ३०० से ऊपर नहीं जाता । यों तो मोहन-जो-दडो और हरप्पा के अवशेषों की कुछ आकृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें जिन मूर्ति कहा जा सकता है, पर यह प्रश्न अभी विवादास्पद-सा है । मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं । इस पर की पॉलिश ही इसका प्रमाण है कि वे मौर्य युगीन हैं । सम्प्रति सम्राट् द्वारा अनेक मूर्तियाँ बनवाने के उल्लेख आते हैं पर मूर्तियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हुई । जो मूर्तियाँ सम्प्रति के नाम से जोड़ी जाती हैं वे इतनी प्राचीन नहीं हैं । काफी बाद की प्रतीत होती हैं । मथुरा में जैन मूर्तियों का निर्माण पर्याप्त परिमाण में हुआ । आयागपट्ट भी मिले हैं । डा० बूल्नर कहते हैं—"आयागपट्ट यह एक विभूषित शिला है, जिसके साथ 'जिन' की मूर्ति या अन्य कोई पूज्य आकृति जुड़ी हुई रहती है । इनका अर्थ "पूजा या अर्पण की तख्ती" कर सकते हैं, कारण कि अनेक शिलोत्कीर्ण लेखों के उल्लेखानुसार "अर्हंतो की पूजा" के लिये ऐसी शिलाएँ मंदिर में रखी जाती थी । ये आयागपट्ट कला की दृष्टि से भी बहुत ही महत्वपूर्ण होते थे । चारों ओर विभिन्न अलंकरणों के मध्य भाग में पद्मासनस्थ जिन रहते हैं । कुछ आयागपट्टों में लेख भी मिले हैं । इन्हें जैनों की मौलिक कृति कहे तो अत्युक्ति न होगी । इन पट्टकों पर ईरानी कला का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । जैनाश्रित कला के ये प्रयत्न विशुद्ध असाम्प्रदायिक हैं ।

इन आयागपट्टकों में त्रिशूल एवं धर्मचक्र के चिह्न भी पाये जाते हैं जो जैनधर्ममान्य मुख्य प्रतीक हैं। मूर्तियों का ज्यों ज्यों स्वतन्त्र विकास होने लगा, आयागपट्टकों की परम्परा विलुप्त होती गई।

कुषाणकालीन जैनमूर्तियाँ भारतशिल्प की अनन्य कलाकृतियाँ हैं। उन दिनों मूर्तिकला उन्नति के शिखर पर थी। कला और सौंदर्य के साथ विभिन्न अलंकरणों से विभूषित थीं। इस युग की मूर्तियाँ आदि जैनाश्रितशिल्प पर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट है। उन दिनों पद्मासन और खड्गासन तथा सपरिकर और अपरिकर दोनों प्रकार की मूर्तियाँ बनतीं थीं। उस समय का परिकर सादा था। मथुरा जैनसंस्कृति का व्यापक केन्द्र था। आज भी यहां पर खुदाई की अपेक्षा है।

बुद्धमूर्ति इन्हीं जैनमूर्तियों का अनुकरणमात्र हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि मोहन-जो-दड़ो की कला का प्रभाव जैनमूर्तियों पर पड़ा है। मूर्तिकला का व्यापक प्रचार होते हुए भी उस समय का साहित्य बिलकुल मौन है। आश्चर्य है। हाँ आगमों में इनकी अर्चना-विधि का विशद वर्णन उपलब्ध होता है पर निर्माण-विधान पर कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में सिन्धु-सभ्यता के प्रभाव की कल्पना काम कर सकती है। पर एक बात है। मोहन-जो-दड़ो और कुषाणयुग के बीच की शृंखला जोड़ने वाली सामग्री नहीं मिलती है। केवल साहित्यिक उल्लेखों से ही सतोष करना पड़ता है। हां परवर्ती साहित्य में संकेत अवश्य मिलता है, पर वह नाकाफी है।

भारत के विभिन्न कोनों में जैनमूर्तियों की उपलब्धि होती ही रहती है। 'जिन' की मौलिक मुद्रा-एक होते हुए भी परिकर में प्रान्तीय प्रभाव पाया जाता है। मुखाकृति पर भी असर होता है। इन मूर्तियों का तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करें तो उनको इन विभागों में बाँटना होगा। उत्तरभारतीय, दक्षिणभारतीय और पूर्वभारतीय उत्तरभारतीय-गुजरात, राजस्थान, पंजाब, महाकोशल, मध्यप्रदेश, मध्यभारत

और उत्तरप्रदेश की प्रतिमाओं में एक ही शैली मिलती है। मुखाकृति, शरीराकृति और अन्य उपकरणों में काफी साम्य है। दक्षिणभारत द्राविड़ सभ्यता का दुर्ग माना जाता है। अतः वहाँ की जैन मूर्तियों पर भी उसका प्रभाव है। उपर्युक्त सूचित शैली से काफी भिन्नत्व है। पूर्वभारत की मूर्तियाँ तो अपना स्वतन्त्र स्थान रखती हैं। वहाँ के कलाकारों ने अपने प्रान्त के उपकरणों का खूब प्रयोग किया है। उनकी मुखाकृति और नासिका तथा परिकर की रचना शैली ही स्वतन्त्र हैं। वर्णित तीनों प्रकार की कलाकृतियाँ भूगर्भ से प्राप्त हो चुकी हैं।

उत्तरभारतीय मूर्तिकला के उत्कृष्ट प्रतीक मथुरा, लखनऊ और प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। बहुसंख्यक प्रतिमाएँ पुरातत्वविभाग की उदासीनता के कारण खण्डहर और अरण्य में जंगली जातियों के देवों के रूप में पूजी जाती हैं। उत्तरभारत के खण्डहर और जंगलों में पाद-भ्रमण कर मैंने स्वयं अनुभव किया है कि सुन्दर से सुन्दर कला कृतियाँ आज भी उपेक्षित हैं। इनकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं है। उत्तरभारतीय मूर्तियों के परिकर को गम्भीरता से देखा जाय तो भरहुत और साँची के अलंकरणों का समन्वय परिलक्षित हुए बिना न रहेगा। मूर्ति के मस्तक के पीछे का भामंडल और स्तम्भ तो कई मूर्तियों में मिलेंगे। पूजोपकरण भी मिलते हैं, जो स्पष्टतः बौद्ध प्रभाव है।

मौर्य और गुप्तकाल में उत्तरभारतीय और पूर्वभारतीय मूर्तिकला का पर्याप्त विकास हुआ। शुंगकालीन मथुरा की कृतियाँ भी अधिकतर जैनों की ही हैं।

गुप्त परमवैष्णव होते हुए भी उदार और परमतसहिष्णु थे। उनके लेखों से यही ध्वनित होता है कि उन दिनों जैन मूर्तियाँ भी बनीं। मथुरा, लखनऊ और प्रयागादि संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

शुङ्गकालीन उभयशैलियों के सम्मिश्रणजन्य कला की प्रतिमाएँ उत्कल में मिली हैं। खंडगिरि और उदयगिरि इनके प्रमाण हैं।

उडीसा के उदयगिरि और खंडगिरि में इस काल की (शुङ्ग-काल की) कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएं हैं, जिनमें मूर्तिशिल्प भी हैं। इनमें से एक का नाम रानी गुफा है। यह दो मंजले हैं और इसके द्वार पर मूर्तियों का एक लम्बा पट्टा है जिसकी मूर्तिकला अपने ढंग की निराली है। उसे देखकर यह भाव होता है कि वह पत्थर की मूर्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काष्ठ पर की नक्काशी है।[1]

मुझे उडीसा में विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सम्बलपुर और कटक जिले में बहुत से जैन अवशेष अरक्षित दशा में पड़े हैं। इस ओर काष्ठ का काम पर्याप्त होता है। मुझे भी एक काष्ठ की जैनप्रतिमा प्राप्त हुई थी। उड़ीसा की कला का एक जैन मंदिर का सम्पूर्ण तोरण आज भी पटना के दीवान बहादुर श्रीयुत राधाकृष्ण जालान के संग्रह में सुरक्षित है। इस पर चतुर्दश स्वप्न और कलश उत्कीर्णित है। जैन दृष्टि से इस ओर अन्वेषण अपेक्षित है।

उत्तरभारतीय जैनमूर्तिकला में सामाजिक परिवर्तन और प्रान्तीय प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरणार्थ महाकोशल और गुजरात को ही लें। महाकोशल और विन्ध्यप्रान्त की जैन मूर्तियाँ भावों की दृष्टि से एक सी हैं पर उनके परिकरों में दो तीन शताब्दी बाद काफी परिवर्तन होते रहे। अष्टप्रातिहार्य के अतिरिक्त श्रावकों की जो मूर्तियाँ सम्मिलित होती गईं उनमें परिवर्तन की कल्पना हो सकती है। कुषाणकालीन प्रभामण्डल सादा था, गुप्तकाल में अलंकरणों से अलङ्कृत हो गया और गुप्तोत्तर काल में तो वह पूरी तौर से, इतना सज गया कि मूल प्रतिमा ही गौण हो गई। महाकोशल एवं तत्सन्निकटवर्ती प्रदेशों के परिकरों में सांची के प्रभाव के साथ कलचुरियों के समय की मूर्तिकला में व्यवहृत उपकरणों का भी प्रभाव है। मेरा जहाँ तक विश्वास है महाकोशल का परिकर बड़ा सफल और सजीव बन पड़ा है। इसके विकास में सिंहासन के आकारों में स्वतन्त्रता और मौलिकता है।

---

१—भारतीय मूर्तिकला पृ० ६०

प्रभामंडल और छत्र भी अपने हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कुछ मूर्तियाँ तेवर और बिलहरी में ऐसी भी मिली हैं, जिन पर सम्पूर्ण शिखराकृति आमलक, कलश के भाव खुदे हैं। अपने आप में वे मन्दिर का रूप लिये हुए हैं। एक और विशेषता है। इस ओर दिगम्बर जैनों का प्राबल्य है अतः बाहुबलीजी भी परिकर में सम्मिलित हो गये हैं। तीर्थंकरों के जीवन की मुख्य घटनाएँ भी आ जाती हैं। इस पर मैंने अन्यत्र विचार किया है।

खड्गासन मूर्तियाँ, जो गुप्तोत्तरकालीन और सपरिकर हैं उन पर गुप्तमंदिरों की शैली का बहुत असर है। ऐसी एक खड्गासनस्थ प्रतिमा मेरे निजी संग्रह में सुरक्षित है। इसका परिकर बड़ा सुन्दर और सर्वथा मौलिक है। इसमें दोनों ओर दो उड़ते हुए गंधर्व बतलाये गये हैं। पेट भी निकले हुए हैं मानो सारा वजन उन्हीं पर हो। ऐसी आकृति गुप्तकालीन मन्दिरों के स्तम्भों में खुदी हुई पाई गई है।

गुजरात में विकसित सपरिकर मूर्तिकला के प्रतीक आबू में विद्यमान हैं। वहाँ पर भी प्रान्तीय उपकरणों का व्यवहार हुआ है। सापेक्षतः विशाल प्रतिमाएँ ( खड्गासनस्थ ) विन्ध्यभूमि और महाकोशल में मिलती हैं। थोड़े बहुत प्रान्तीय भेदों को छोड़ दें तो स्पष्टतया उत्तरीयकला परिलक्षित होगी।

पूर्वीय कलाकृतियाँ मगध और बंगाल में मिलती हैं। मगध और बंगाल के परिकर बिलकुल अलग ढंग के होते हैं। मगध के कलाकारों ने 'पाल' प्रभाव को नहीं भुलाया। वहाँ प्रस्तर के अतिरिक्त चूने के पलस्तर की प्रतिमाएँ भी मिलती हैं।

उत्तर और पूर्वीय जैन मूर्तिकला की परंपरा १४ वीं शताब्दी के बाद रुक-सी जाती है। इसका यह अर्थ नहीं मूर्तियाँ बनती न थीं। पर उनमें कलात्मक दृष्टिकोण का अभाव स्पष्ट है।। इस पर मैंने अन्यत्र विचार किया है।[१]

---

१—देखें "जैनमूर्तिकला का क्रमिक विकास" ज्ञानोदय वर्ष १ अंक ३ पृ० १९८–२०७

दक्षिणभारतीय जैन मूर्तिकला का इतिहास ईस्वी पूर्व २००–१३०० तक का माना जाता है। इस ओर भी जैनों का सार्वभौमिक व्यक्तित्व बड़ा उज्ज्वल रहा है। विभिन्न राजवंशों ने अपने अपने समय में शिल्प की उन्नति में योग दिया है। दक्षिणभारतीय मूर्तिकला के उत्कृष्ट प्रतीक आज भी सुरक्षित है। भावों की अपेक्षा यहाँ की मूर्तियो में भले ही समानता प्रतीत होती हो पर कला की दृष्टि से उनमें काफी अंतर है—जो देश भेद के कारण स्वाभाविक है। उनका अग विन्यास और मुखाकृति द्राविडियन हैं। उनका प्रभामण्डल आदि परिकर के उपकरण दोनो शैलियों से सर्वथा भिन्न हैं।

जिनप्रतिमा पूर्व सूचित आसन के अतिरिक्त चौबीसीपट्टक भी मिलते है। कहीं पचतीर्थ भी मिलती है। विन्ध्यप्रदेश और महाकोशल में इसका विशेष प्रचार था। ऐसे पट्टक प्रयागसग्रहालय में तथा जङ्गलों में पाये जाते हैं।[१]

स्वतन्त्र जैनप्रतिमाएँ तो मिलती हैं। पर जैन मदिरों के तोरण भाग में भी जिन प्रतिमाएँ और यक्षों की सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्णित पायी गई हैं। ऐसे सुन्दर तोरण मुझे महाकोशल में प्राप्त हुए हैं। मेरे सग्रह में है। तोरणान्तर्गत मूर्तियाँ मदिर की आकृति में रहती हैं।[१]

## धातु मूर्तिया—

कलाकार आत्मस्थ सौंदर्य को कल्पना के सम्मिश्रण से उपादान द्वारा रूप प्रदान करता है। इसमें उपादानो की अपेक्षा आन्तरिक भावों की ही प्रधानता रहती हैं। कहने का तात्पर्य कि किसी भी प्रकार के उपादान द्वारा, यदि कलाकार में सौंदर्यदर्शन की उत्कृष्ट क्षमता है तो वह व्यक्त कर देगा। जैनाश्रित कलाचार्यों ने यही किया है। इसी कारण

---

१—देखें "महाकोशल का जैन पुरातत्त्व" शीर्षक मेरा निबंध।

से प्रस्तर के अतिरिक्त धातु, काष्ठ और रत्नों का व्यवहार भी खूब हुआ। सीमित स्थान में सौंदर्य की अभिव्यक्ति श्रम साध्य है।

सुरक्षा की दृष्टि से धातु की विशेष उपयोगिता है। प्रस्तरमूर्ति खंडित होने की संभावना से परे नहीं है। पपड़ियें पड़ जाती हैं, पर धातुमूर्तियों में ये बातें नहीं दिखतीं। प्राचीन जैनप्रतिमाएँ गुप्तकाल की मिलती हैं। न केवल उनकी रचना शैली से ही यह ज्ञात होता है अपितु कुछेक लेख युक्त भी प्राप्त हो चुकी हैं। सर्व प्राचीन धातुमूर्ति स्वर्णगिरि—सोनागिर—के भट्टारक के पास थी पर अब तो वह **भारतकला भवन** में विराजमान हो गई है। **कटनी** के एक जैन तरुण से मुझे ज्ञात हुआ [१]। यह प्रतिमा है तो लघुतम ही पर कला और प्राचीनता के ख्याल से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद वे मूर्तियाँ आती हैं, जो बड़ौदा राज्यान्तर्गत महुड़ी से प्राप्त की गई हैं। इनकी संख्या [२] चार है। तीन बड़ौदा पुरातत्त्व विभाग के अधिकार में हैं एक कोट्यार्क के महन्त के संरक्षण में हैं। सीमेन्ट से दीवाल में जड़ दी गई हैं। ये मूर्तियाँ स्पष्टतः जैन हैं। फिर भी तत्कालिक पुरातत्त्वविभाग के प्रधान डा० हीरानन्द शास्त्री ने इन्हें बौद्ध [३] साबित करने की काफी चेष्टा की पर उनका निरसन डा० हसमुखलाल [४] सांकलिया और साराभाई [५] नवाब ने भलीभाँति कर दिया है। ये मूर्तियाँ कला और सौंदर्य की दृष्टि से प्राप्त धातुमूर्तियों में अपना उच्चस्थान रखती हैं। प्रसन्नता तो इस बात की है मूर्तियाँ सलेख हैं। परन्तु शास्त्रीजी ने इन्हे पहचानने में गंभीर भूलें कर डाली हैं। अभी भी पुरातत्वज्ञ यही मानते

---

१—धन के लोभ में आकर उपासक उपास्य तक को विक्रय करवा देते हैं।

२—भारतीय विद्या वर्ष १—अंक २।

३—रिपोर्ट आफ दि आर्क्योलाजिकलसर्वे बड़ौदा स्टेट, १९३७–८।

४—बुलेटिन आफ दि डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टिटयूट, मार्च १९४०।

५—भारतीय विद्या भाग १ अंक २ पृ० १७९—१९४।

है कि अत्यन्त सुन्दर कलाकृति जैन कैसे हो सकती है ? यह भ्रम अब तो निकल जाना चाहिये।

सं० १६५६ के भीषण अकाल के समय में वसन्तपुर में दो जैनधातु प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थी, वे वर्तमान में पिंडवाडा में सुरक्षित हैं। इनमें से एक पर सं० ७४४ का लेख भी खुदा हुआ है। लेख रहित आठवीं नवी शती की कई प्रतिमाएँ मिलती हैं। और दशमशती के बाद तो धातु मूर्तियों की इतनी प्रचुरता हो गई कि प्रस्तर का उपयोग सापेक्षत बहुत कम हो गया। सामान्य गृहस्थ भी पीतल आदि सप्तधातु की मूर्ति तो बनवा ही सकता था, पर पाषाण मँहगा पड़ता होगा। दूसरा कारण मुगलों का भी था।

धातुमूर्ति के निर्माताओं ने पाषाण प्रतिमाओं का ही अनुकरण किया है। पूर्वकालीन अधिकतर धातुमूर्तियाँ लेख रहित थीं, अत उनका पिछला भाग खुरदरा रहता था। उत्तरकालीन मूर्तियों का पृष्ठ भाग स्वच्छ था। इस पर लेख लिखे जाते थे। कुछ में चित्र भी उकेरे जाते थे। उत्तर-भाग की मूर्तियाँ धार्मिक दृष्टि से महत्व की होती थी पर उनमें कलातत्व नहीं था। १२ वीं शती के बाद एक प्रकार से लोप ही हो गया। इसका कारण संख्या बाहुल्य न होकर कला के प्रति रुचि का भाव कम था। इन दिनों जैनों ने मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला पर विशेष ध्यान दिया। उपर्युक्त सूचित तीनों शैलियों की धातु प्रतिमाएँ मिलती हैं। स्वर्ण-लोभवश इन्हें गलाने की भी चेष्टा करते हैं। इन मूर्तियों से एक बात का पता अवश्य चलता है कि उत्तरगुप्तकाल में ऊपर से चक्षु लगाने की प्रथा उभय सम्प्रदाय में प्रचलित थी।

काष्ठ मूर्तियां—

सापेक्षत काष्ठ प्रतिमाएँ कम मिलती हैं। विशेषकर के इसका प्रयोग भवननिर्माण में होता था। परन्तु जैनवास्तु विषयक ग्रन्थो में काष्ठ मूर्ति का उल्लेख आता है। श्रमणभगवान्महावीर के समय भी चदन का प्रयोग मूर्तिनिमाण में हुआ था। मगध के पाल राजाओं के

ने भी काष्ठप्रतिमाओं का सृजन किया था। अतः परम्परा प्राचीन है। उत्तरकालीन जैनों ने शायद इसका निर्माण इसलिये रोक दिया होगा कि सापेक्षतः इसकी आयु कम है। प्रतिदिन प्रक्षाल से वह शीघ्र ही जर्जर हो जाता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोषसंग्रहालय में एक जैनाश्रित मूर्तिकला की जिनप्रतिमा है। इसकी प्राप्ति बिहार के विष्णुपुर के तालाब से हुई थी। मेरे मित्र श्री डी. पी. घोष ने इसका काल दो हजार वर्ष पूर्व का स्थिर किया है। प्रतिमा को देखने से ज्ञात होता है वह पर्याप्त समय जलमग्न रही होगी। क्योंकि उसमें सिकुड़न बहुत है। रेखाएं भी कम नहीं हैं। डा० विलियम नार्मन ब्राउन ने मुझे एक भेंट में बताया था कि अमेरिका में भी कुछ काष्ठोत्कीर्ण जिनमूर्तियाँ हैं, जिनका समय आज से १५०० वर्ष पूर्व का है।

विवेकविलास में प्रतिमा निर्माण काम में आने वाले काष्ठ की परीक्षा का उल्लेख इस प्रकार आया है—

*"निर्मलेनारनालेन पिष्टया श्रीफलत्वचा*
*विलिप्तेऽश्मनि काष्ठे वा प्रकटं मंडल भवेत्"*

परीक्षा के अंगों पर प्रकाश डालने वाली और भी सूचनायें इसी में हैं।

प्रतिमा निर्माण में इन काष्ठों की परिगणना है—

चंदन, श्रीपर्णी, वेलवृक्ष, कदंब, रक्तचंदन, पियाल, ऊमर, शीशम।[1]

---

१—कार्यं दारुमयं चैत्ये श्रीपर्ण्या चदनेन वा।
त्रिल्वेन वा कदम्बेन रक्तचंदनदारुणा॥
पियालोदुम्बराभ्यां वा क्वचिच्छिंशिमयापि वा।
अन्यदारुणि सर्वाणि बिम्बकार्ये विवर्जयेत्॥

## रत्न की मूर्तियां—

श्री सम्पन्न जैनसमाज ने बहुमूल्य रत्नों की मूर्तियाँ भी बनवाईं। किंवदन्तियों को यदि सत्य मान लिया जाय तो रत्नों की मूर्ति का इतिहास सर्वप्राचीन सिद्ध होगा, पर ऐतिहासिक व्यक्ति के लिये यह मानना कम सम्भव है। इस विभाग में शाश्वता जिनबिम्बों को छोड़ भी दिया जाय तो स्थम्भनपार्श्वनाथ की प्रतिमा सर्व प्राचीन ठहरेगी। यह अभी स्तम्भतीर्थ—खम्भात—में सुरक्षित है। इसका रत्न आज तक नहीं पहचाना गया। इसके बाद भी उत्तर-गुप्तकालीन रत्नमूर्तियाँ महाकोशल के आरंग (जि० रायपुर) में उपलब्ध हुई हैं। आजकल रायपुर के जैनमंदिर में विद्यमान हैं। इनमें व्यवहृत रत्न सिरपुर की मूर्तियों की जाति के हैं। इनकी मुखाकृति और रचनाकाल सिरपुर से प्राप्त धातुमूर्तियों के समान हैं। सोमवंशीय नरेशों के समय की मानना उचित जान पड़ता है। मध्यकाल में स्फटिकरत्न की मूर्तियाँ बहुत ही विशाल रूप में बनतीं थीं। रत्नों में यही एक ऐसा रत्न है जिनकी शिलाएँ सापेक्षत विशाल होती हैं। १७वीं शताब्दी की लेखयुक्त एक मूर्ति नासिक के जैन मंदिर[1] में है। गुजरात में इसका बाहुल्य है। पन्ना, हीरा और पुखराज की कई मूर्तियाँ मिलती हैं। श्रवणबेलगोला, कलकत्ता और बीकानेर में

---

१—लेख इस प्रकार है—

*"संवत् १६८७ फागुण सुद ३ वटपद्र (बड़ोदा) वासि सा० खीमजी सुपुत्र माणिकजीकेन श्रीअंतरिक्षपार्श्वनाथबिं का० प्र० तपा० श्रीविजयदेवसूरिभि।"*

इस प्रतिमा के रजतमय सुन्दर परिकर पर भी इस प्रकार लेख खुदा है—

*"संवत् १६८७ व० वै० वदि २ दिने नडिआदिनगरवासि उसवालवृद्ध ज्ञातीय राघण गोत्रीय सा० खीमजी भा० बाई तुलजा*

भी इनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ आज भी विद्यमान हैं।

प्राचीन कालीन जितनी अधिक और कलापूर्ण **अंबिका** की मूर्तियाँ मिलती हैं उतनी ही मध्यकालीन **पद्मावती**[1] की। वह पार्श्वनाथजी की अधिष्ठातृ है। जहाँ तक मंत्रशास्त्र का प्रश्न है, पद्मावती से सम्बन्धित ही अधिक मिलते हैं। यंत्र में भी इसीका साम्राज्य है। विन्ध्याचल में इनकी गुफा है। विंध्यप्रदेश में तो बड़ी विशाल प्रतिमाएँ मिलती हैं। पश्चिमभारत में पाटन, प्रभासपत्तन, शत्रुँजय आदि नगरो मे बहुत मूर्तियाँ मिलती हैं। इनके मंत्रकल्प भी कम नहीं है। इन देवियो की खड़ी और बैठी कई प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं। विजया, काली की भी मूर्तियाँ मिलती हैं। यों तो ज्वालामालिनी की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति मैंने आज से ८ वर्ष पूर्व केलझर में देखी थी, पर इनका प्रचार सीमित है। १६ विद्या देवियों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ आबू के मधुच्छत्र में मिली हैं। २४ शासन देवियों की सवाहन, सायुध और सामूहिक विशाल प्रतिमा प्रयागसंग्रहालय में सुरक्षित है। जैनमूर्तिकला के क्रमिक विकास पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

देवियों में **सरस्वती** की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन संस्कृति के अनुसार जिनवाणी ही सरस्वती है। जिनागम ही उसका मूर्तरूप है। पर मध्यकाल में जैन दृष्टि से सरस्वती की मूर्तियाँ भी बनने लगीं थीं।

---

१—पाटन, प्रभासपतन, शत्रुञ्जय और विन्ध्याचल आदि कई स्थानों में पद्मावती की बैठी मूर्तियाँ तो काफी मिलतीं हैं पर खड़ी प्रतिमाएँ बहुत ही कम। वर्धा जिले के सिन्दी ग्राम में एक जैन मन्दिर में अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण पद्मावती की खड़ी प्रतिमा भूरे पत्थर पर उत्कीर्णित है। मस्तक पर भगवान् पार्श्वनाथजी बिराजमान हैं। यह अनुपम कलाकृति उपेक्षित अवस्था में धूल में ढँकी हुई है। इस प्रतिमा को बारहवीं शती के आभूषणों का भंडार कहें तो अत्युक्ति न होगी।

इनके परिकर में तथा मस्तक पर जिनमूर्तियाँ उकेरी जाती थीं और उपकरण भी जैनाश्रित कला के रहते थे। ऐसी मूर्तियों में बीकानेर-स्थित सरस्वती (जो आजकल न्यू एशियन एन्टिकरियन म्युजियम दिल्ली मे सुरक्षित हैं) मूर्तिकला का उत्कृष्ट प्रतीक है। इतनी विशाल और मनोज्ञ देवीमूर्तियाँ कम ही मिलेंगी। यों तो पश्चिमभारत में जैनाश्रित मूर्तिकला परम्परा में इनका भी निर्माण प्रचुर परिमाण में हुआ है। दक्षिण भारत के जैनो ने भी सरस्वती को मूर्त रूप दिया था।

देवीमूर्तियाँ अधिकतर पहाड़ियों और गुफाओं मे मिलती हैं पर लोग सिन्दूर पोतकर उन्हे इतना विकृत कर देते हैं कि मौलिक तत्त्व ढँक जाता है। बकरे चढाने लगते हैं। मैंने चादवड में स्वय देखा है। पास की पहाड़ियों में एक गुफा मे जैनमूर्तियाँ हैं उनके आगे यह कुकृत्य १९३९ तक तो होता था।

सापेक्षत यक्ष प्रतिमाएं कम मिलती हैं। क्षेत्रपाल और माणिभद्र की कुछ मूर्तियाँ दृष्टिगत हुई हैं। यक्षों में गोमुख, षण्मुख, यक्षराज, धरणेन्द्र, कुबेर, गोमेध, ब्रह्मशान्ति, और पार्श्वयक्ष की प्रतिमाएं स्वतन्त्र मिली हैं। पार्श्वयक्ष को पहचानने मे लोग अक्सर गलती कर बैठते हैं। कारण कि उनकी मुखाकृति, उदर, आयुध गणेश के समान ही होते हैं। इन यक्षों की स्वतन्त्र प्रतिमाओं मे उनका व्यक्तित्व झलकता है। परिकरान्तर्गत यक्ष मूर्ति इतनी सकुचित होती है कि यदि शिल्प ग्रन्थो के प्रकाश में उन्हे देखें तो भ्रम हो जायगा। कारण कि स्थानाभाव से कलाकार उनके पूर्णरूप को अङ्कित ही नहीं कर पाता है। उदाहरणार्थ ऋषभदेव के यक्ष गोमुख को ही लें। कुछ मूर्तियों में तो ठीक रूप मिलेगा पर बहुसंख्यक ऐसी मिलेंगी कि उनकी मुखाकृति आयुध और वाहन कुछ भी शास्त्रीय उल्लेख से साम्य नहीं रखते। यहां पर एक बात की चर्चा कर देना उचित होगा। 'कुबेर' की प्रतिमा ऋषभदेव के परिकर में अक्सर रहती है। परन्तु यह कुबेर जैन शिल्प का प्रतीत नहीं होता। कारण कि इसमे रत्नथैली, नकुल, पाश एव मोदक

था सुरापात्र रहते हैं, जबकि जैन कुबेर चार मुख और आठ हाथों वाला होता है।[1]

यक्ष मूर्तियों के निर्माण पर समाज ने कम ध्यान दिया है। इसका एक कारण है। प्रत्येक मन्दिर में रक्षक का स्थान क्षेत्रपाल का होता है और अधिष्ठाता का स्वरूप जिनमूर्ति में तो रहता ही है। क्षेत्रपाल की उच्च कोटि की मूर्ति श्रवणबेलगोला में है। अन्यत्र तो केवल नालिकेर की स्थापना कर सिन्दूर चढ़ाते जाते हैं।

## आचार्य-प्रतिमाएँ—

जैनशासन की गौरवगरिमा को अक्षुण्ण रखने वाले परमत्यागी, तपस्वी और विद्वान आचार्य या मुनियों की मूर्तियाँ भी बारहवीं शताब्दी के बाद बनने लगी थीं। प्राकृत साहित्य में अबाधगति वाले, आशुकवि श्रीजिनवल्लभसूरि, अपभ्रंश साहित्य के परम मर्मज्ञ श्रीजिनदत्तसूरि, संस्कृत साहित्य की सभी शाखाओं में निष्णात आचार्य हेमचन्द्रसूरि, कुशल कवि और कई शास्त्रार्थ के विजेता श्रीजिनपतिसूरि, सुप्रसिद्ध दार्शनिक अमरचन्द्रसूरि, जिनप्रबोधसूरि, जिनकुशलसूरि, हीरविजयसूरि आदि अनेक आचार्यों की मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इन सबसे सर्वाधिक पूज्य आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी हैं।

---

[1] "तत्तीर्थोत्पन्नं कुबेरयक्षं चतुर्मुखमिन्द्रायुधवर्णं गरुडवदनं। गजवाहनमष्टभुजं वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिं बीजपूरक—शक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिंचेति"।

वास्तुसार पृ० १६०

दिगम्बर जैन शास्त्रानुसार कुबेर का स्वरूप ऐसा होना चाहिये:—
'सफलकधनुर्दण्ड पद्म खड्गप्रदरेसुपाशवर प्रदाष्टपाणिम्।
गजगमन चतुर्मुखेन्द्रचापद्युतिकलशांकनतं यजे कुबेरम्॥

इनके गुरु मंदिर भारत में सर्वत्र मिलते हैं। गुरु मूर्तियों में स्वाभाविकता कम रहती है।

## गृहस्थ-मूर्तियाँ—

राजाओं की जितनी भी प्राचीन मूर्तियाँ भारत में उपलब्ध हुई हैं उनमें सर्वप्राचीन अजातशत्रु और नन्दिवर्धन की हैं। ये दोनों जैनधर्म के उपासक थे। इतिहास में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दिवर्द्धन ने जब कलिंग को हस्तगत किया तब वहां से एक जैनमूर्ति उठा लाया था। इसीसे इनके जैनत्व का पता चल जाता है। या तो जैन मूर्ति के परिकर में यक्ष यक्षिणी के निम्न भाग में गृहस्थ युगल की कृति दृष्टिगत होती है पर वस्तुपाल तेजपाल, मपलिक, वनराज[1] चावडा, मोतीशा[2] आदि कई गृहस्थों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी हाथ जोडे मंदिर में स्थापित की गई हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी पूजा हो, पर भक्ति की मुद्रा में वे खडे रहें यही उद्देश्य था[3]।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्राप्त सभी प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख कर दिया गया है। संभव कुछ रह भी गया हो। तीर्थंकर मूर्तियां, उनका परिकर, यक्ष-यक्षिणियों के बिम्ब न केवल धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्व के हैं अपितु भारतीय मूर्तिकला के क्रमिक विकास के अध्ययन की मूल्यवान सामग्री भी हैं। सामाजिक रहन सहन का और आर्थिक विकास भी उनमें परिलक्षित होता है। सौंदर्य के प्रकाश में देखें तो अवाक् रह जाना पडेगा। शिल्पाचार्यों ने अपने श्रमसे जो कलाकृतियां भेंट की हैं उनमें आनन्द देने की अनुपम क्षमता है। रस सृष्टि है। आत्मा को शान्ति मिलती है। प्राचीन होकर भी नवीन भावनाएं जाग्रत करती हैं।

---

१—भारतना जैनतीर्थो अने तेमेनु शिल्पे स्थापत्य प्लेट ४६

२— ,, ,, ,, ५०

३—उपयुक्त ग्रन्थ में ऐसी कई प्रतिकृतियां हैं।

## २—गुफाएँ

जैन गुफाएं पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध होती हैं। आध्यात्मिक साधना के उन्नत शिखर पर अग्रसर होने वाली भव्यात्माएं वहां पर निवासकर, दर्शनार्थ आकर अनुपम शान्ति का अनुभव कर आत्मतत्व के रहस्य तक पहुंचने का शुभ प्रयास करती थीं। प्राकृतिक वायुमंडल भी पूर्णतः तदनुकूल था। प्रकृति की गोद में स्वस्थ सौंदर्य का बोध ऐसे ही स्थानों में हो सकता है। संस्कृति, प्रकृति और कला का त्रिवेणी संगम मानव को आनन्द विभोर कर देता है। स्वाभाविक शान्ति ही चित्तवृत्तियों को स्थिर कर निश्चित मार्ग की ओर जाने को इंगित करती है। इसमें उकेरी हुई सुन्दर कलापूर्ण जिनप्रतिमाएँ दर्शनार्थी को आकृष्ट कर लेती हैं। राग, द्वेष, मद, प्रमाद एवं आत्मिक प्रवंचनाओं से बचने के लिये, शून्य ध्यान में विरत होने मे जैसी सहायता यहाँ मिलती वैसी अन्यत्र कहाँ ? सत्य की गहन साधना के लिये एकांन्त नितान्त अपेक्षित है। कुछ गुफाएँ तो ऐसी हैं जहाँ से हटने का मन नही होता। जिनमूर्ति एवं तदंगीभूत समस्त उपकरणों से सुसज्जित रूपशिल्प कलाकार की दीर्घकाल व्यापी साधना का सुपरिचय देती है। दैनिक जीवन और उनके प्रति औदासिन्यभावों की प्रेरणात्मक जागृति को उद्बुद्ध कराने वाले तत्त्वों का समीकरण इन भास्कर्य सम्पन्न कृतियों में परिलक्षित होता है। उचित मात्रा में सौंदर्य बोध के लिये आध्यात्मिक श्रम अपेक्षित है। आत्मस्थ सौदर्य दर्शनार्थ जीवन को साधनामय बनाना ही श्रमणसंस्कृति का लक्ष्य है।

भारतीय शिल्प स्थापत्य कला के विदेशी अन्वेषकों में फर्गुसन का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने जैन स्थापत्य पर भी प्रकाश डाला है। परन्तु जैन और बौद्ध भेद को न समझने के कारण कई भूलें कर दी हैं, जिनका परिमार्जन वांछनीय है। उदाहरणार्थ राजगृह को ही लें। वहां पर सोनभंडार में जैनमूर्तियाँ और धर्मचक्र उत्कीर्णित हैं। इनको और भी

कई विद्वान बौद्धकृति मानते हैं, वस्तुत यह मान्यता भ्रामक है, क्योंकि वहां पर स्पष्टत इन पक्तियों में लेख खुदा हुआ है—

*१ निर्व्वाणलाभाय तपस्वि योग्ये शुभे गृहेर्हत्प्र[ति]मा प्रतिष्ठते [।]*
*२ आचार्य रत्न मुनिवैरदेव विमुक्तये कारय दीर्घ(?) तेज (॥)*

जैन साहित्य के कई उल्लेखों से इसका जैनत्व सिद्ध है। प्राचीन गुर्वावली एव तीर्थमालाओं में भी इसकी चर्चा आई है। जैन किंवदन्ती इसका सम्बन्ध श्रेणिक और चेलणा से जोडती है, यह ठीक नहीं है।

फर्गुसन ने एक स्थान पर लिखा है कि—"*जैन कभी गुहा निर्माता रहे ही नहीं*"। आगे फिर लिखा है—"*जैनों के गुहामदिर उतने प्राचीन नहीं है जितने अन्य दोनों सम्प्रदायों के। शायद उनमें से एक भी ६वीं शती से पूर्व का नहीं है*"। यह कथन सर्वथा भ्रामक है। स्पष्ट रूप से कहा जाय तो अति प्राचीन जितनी भी गुफाएँ उपलब्ध हैं उनमें से बहुतों का निर्माण जैनों द्वारा ही हुआ है।

सर्वप्राचीन गुफा गिरनार बराबर और नागार्जुनी पहाडियों में है। इनमें से दो का ओप और स्निग्धत्व मौर्य काल की सूचना देता है। दो आजीवक सम्प्रदाय से सम्बन्धित है, जो जैना का एक उपसम्प्रदाय था। अशोक के पुत्र दशरथ ने इन्हें दान किया था। उदयगिरि खडगिरि की जैन गुफाएँ विश्वविख्यात है। ग्वालियर स्टेट के अतर्गत उदयगिरि (भेलसा) में गुप्तकालीन जैन गुहा मदिर है। इसमे भगवान पार्श्वनाथ की भव्य प्रतिमा थी। अब तो केवल सर्पफन शेष है। यहाँ एक जैन लेख भी इस प्रकार पाया गया है—

*१ नम सिद्धेभ्य [॥]*
*श्री सयुताना गुणतोयधीना गुप्तान्वयाना नृपसत्तमाना—*

*२ राज्ये कुलस्याधिविवर्धमाने षड्भिर्युते वर्षशतेथ मासे [॥]*

सुकार्तिके बहुलदिनेथ पंचमें

३ गुहामुखे स्फटविकतोत्कटामिमां [।] जितोद्विपो जिनवर पार्श्वसंज्ञिकां जिनाकृतिं शमदमवान

४ चीकरत् [।।]
आचार्य भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य कुलोद्गतस्य [।]
आचार्य गोश

५ र्म्ममुनेरतुसुतस्तु पद्मावतावश्वपतेर्ब्भटस्य [।।] परैरजेयस्य रिपुघ्नमानिनस्य संघिल

६ स्येत्यभिविश्रुतो भुवि [।]
स्वसंज्ञया शंकरनामशब्दितो विधानयुक्तं यतिमार्ग्गमास्थितः [।।]

७ स उत्तराणां सदृशे कुरुणां उदग्दिशादेशवरे प्रसूतः [।] क्षयाय कर्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तद पाससर्ज्ज [।।।][1]

यह लेख गुप्तसंवत् १०६ का है। उस समय कुमारगुप्त प्रथम का शासन था।

## जोगीमारा—

मध्यप्रदेश के अन्तर्गत सरगुजा राज्य में लक्ष्मणपुर से बारहवें मील पर रामगिरि-रामगढ़ पर्वत है। इस पर जोगीमारा गुफा उत्कीर्णित है। प्राचीन शैलचित्रों में इस गुफा के चित्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म और कला—उभयदृष्ट्या इसका स्थान अनुपम है। इनमें कुछ चित्रों का विषय जैन है। अतः यह भी कभी जैन गुफा रही होगी। यहाँ से ई० पूर्व तीसरी शती का एक लेख भी प्राप्त हुआ है। डा० ब्लाख ने इसका यही समय निश्चित किया है।

---

१—कार्पस इन्स्क्रप्सन इंडिकेरम् भा० ३ डा० फ्लीट,

## ढंकगिरि—

जैन साहित्य में इसका उल्लेख कई स्थानों पर आया है। यह शत्रुंजय का एक उपपर्वत गिना जाता है। वर्त्तमान में इसकी स्थिति वल्लभीपुर के निकट है। सातवाहन के गुरु और पादलिप्तसूरि के शिष्य सिद्धनागार्जुन यहीं के निवासी थे। जैसा कि निम्न उल्लेख से ज्ञात होता है—

> *"ढंकपव्वए रायसीहरायउत्तस्स भोपलनामिश्रं*
> *धूश्रं रूपलावरण सम्पन्न दट्ठूण जायाणुरायस्स*
> *त मेवमाणस्स वासुगिणो पुत्तो नागज्जुणो नाम आश्रो"*

विविधतीर्थकल्प पृ० १०४

प्रबन्धकोश और पिंडविशुद्धि की टीकाओं में उपर्युक्त पंक्तियों का समर्थन किया गया है। इनका समय विक्रम की प्रथम शती का उत्तरार्द्ध पड़ता है। स्वर्णसिद्धि के लिये नागार्जुन ने बड़ा श्रम किया था। कहना चाहिये यही उनके लिये प्राणघातिनी साबित हुई। ढंक पर्वत की गुफा में इसने रसकूपिका रखी थी जैसा कि इस उल्लेख से स्पष्ट है—

> *"नागार्जुनेन द्वौ कुपितौ मृतौ ढंकपर्वतस्य गुहाया क्षितौ"*

पुरातन प्रबंध संग्रह पृ० ६२

जिस गुफा को ऊपर उल्लेख किया है वह जैन गुफा है। यद्यपि डा० वर्जेस ने इसकी गवेषणा की थी पर जैन प्रमाणित करने का श्रेय मेरे मित्र डा० हँसमुखलाल धीरजलाल साकलिया को है। आपने गुफा में भगवान पार्श्वनाथ की एक खड़ी प्रतिमा देखी। अम्बिका की आकृति भी। डा० साकलिया ने इस प्रतिमा का समय ईस्वी सन् तीसरी

शती स्थिर किया है।[1] इसी काल के कुछ शिल्प श्री साराभाई नवाब ने भी सौराष्ट्र में देखे थे।[2]

### चन्द्रगुफा—

बाबा प्यारे के मठ का उल्लेख ऊपर एकबार आ चुका है। वहां की गुफाओं का अध्ययन बर्जेस ने किया है। उनको इन गुफाओं में ईस्वी पूर्व प्रथम और द्वितीय शती के चिन्ह मिले हैं। इनमें स्वस्तिक, नंदीपद, मत्स्य-युगल, भद्रासन तथा कुम्भकलश भी सम्मिलित हैं। ये अष्टमंगल से सम्बद्ध हैं। मथुरा की जैनाश्रितकृतियों में भी इनकी उपलब्धि हो चुकी है। क्षत्रप कालीन एक मूल्यवान लेख भी प्राप्त हुआ है,[3] जो तत्कालिक जैन इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। गुफा चन्द्राकार होने से ही इसे चन्द्रगुफा कहते हैं। दिगम्बर जैन साहित्य को व्यवस्थित करने वाले श्रीधरसेनाचार्य ने इसीमें निवास किया था। पुष्पदन्त और भूतबलि का अध्ययन इसी गुफा में हुआ था। परन्तु इस पूज्य स्थान की ओर जैन समाज का ध्यान नहिंवत् है।

ढंकगिरि और चन्द्रगुफा से इतना तो निश्चित है कि उन दिनों

---

१—श्री जैन सत्यप्रकाश व० ४ अं० १–२

२—भारतीय विद्या भा० १ अंक २

३—(१) ............स्तथा सुरगण [।] [ क्षत्रा ] णां प्रथ [ म ]........

(२) .......चाष्टनस्य प्र [ पौ ] त्रस्य राज्ञः क्ष [त्रप] स्य स्वामिजय-दामपे [ ौ ] त्रस्य राज्ञो म [ हा ]............

(३) [ चै ] त्रशुक्लस्य दिवसे पंचमे ५ इ [ ह ] गिरिनगरे देवासुरनागय [ क्ष ] राक्षसे............ ...

(४) .........थ [ पु ] रमिव.........केवलि [ ज्ञा ] न स.....नां जरमरण [।]... .... .... .... ।

एपीग्राफिया इंडिका भा० १६ पृ० २३९

सौराष्ट्र में जैन संस्कृति का अच्छा प्रभाव था और गुफा निर्माण विषयक परम्परा भी थी।

## बादामी—

ईस्वी सन् की दूसरी शती में यह स्थान पर्याप्त ख्याति पा चुका था कारण कि सुप्रसिद्ध लेखक टॉलेमी ने इसका उल्लेख किया है। प्रथम यहां पर पल्लवों का दुर्ग था। चौलुक्य पुलकेशी प्रथम ने इसे हस्तगत किया। तदनन्तर पश्चिमी चौलुक्य ( ई०स०७६० ) और राष्ट्रकूटों (ईस्वी सन—७६०-९७३ ) का आधिपत्य रहा। बाद कलचुरि एवं होयसालवंश ने सन ११९० तक राज्य किया। तब से देवगिरि के यादवों की सत्ता १३ वीं शती तक रही।

यहां पर तीन ब्राम्हण गुफाओं के साथ पूर्व की ओर एक जैन गुफा भी है। निर्माण काल ६५० इस्वी होना चाहिए। कारण कि पूर्व निर्मित गुफाओं में सापेक्षत आंशिक पार्थक्य है। इसकी पडशाल ३१×१६ फुट है। गुफा १६ फुट गहरी है। इसके स्तम्भ एलीफंटा के समान हैं। भगवान की मूर्ति पद्मासन में है। बरामदे में चार नाग, गौतमस्वामी तथा पार्श्वनाथ स्वामी का मूर्ति है। दीवाल एवं स्तम्भों पर भी तीर्थंकर-आकृति[1] है। पूर्वाभिमुख द्वार के पास भगवान महावीर की पल्यंकासनस्थ प्रतिमा है।

## श्रमणहिल—

मदुरा तामिल का महत्वपूर्ण नगर रहा है। राजनैतिक और साहित्यिक-उभय दृष्टि से इसका स्थान ऊंचा था। यहां पर साहित्यिकों की परिषद हुआ करती थी। यहां पर भी जैनसंस्कृति की गौरव-गरिमा में अभिवृद्धि करने वाली कलात्मक सामग्री प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। श्रीयुत

१—आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट भा० १ पृ० २५

इलोरा की प्रसिद्धि सत्रहवीं शती में भी खूब थी, जब कि आवागमन के साधनों का प्राय: अभाव था। कविराज मेघविजयजी ने औरंगाबाद में चातुर्मास बिताया था। उस समय अपने गुरुजी को एक समस्या-पूर्तिमय विज्ञप्ति पत्र भेजा था उसमें इलोरा का वर्णन इन शब्दों में है—

इत्येतस्मान्नगरयुगलाद् वीक्ष्य केलिस्थलं त्वम्,
इलोराद्रौ सपदि विनमन् पार्श्वमीशं त्रिलोक्या:
भ्रात: ! प्रातर्व्रज जनपदस्त्रीजनै: पीयमानो,
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थ कृत्या: ॥
त्वामुद्यान्तं नभसि सहसाऽवेक्ष्यकान्ता वियुक्ता
स्त्रासव्यासं दधति सरसां पार्श्वमस्माज्जहीहि
रात्रौ म्लाना इह कमलिनीर्मोटितुं भानुमाली,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूय:
मार्गे यान्तं बहुलसलिलैर्दावबन्हिप्रशान्ते
र्गोत्रै: क्लृप्तोपकृतिसुकृतं रक्षितुं त्वां नियुक्ता:।
नद्यस्तासां प्रचितवयसामर्हसि त्वं न धैर्यान्,
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्त्त न प्रेक्षितानि
काचित्कान्ता सरिदिह तव प्रेक्ष्य सौभाग्य भंगी
भंगी कुर्याच्चपलसलिला वर्तनाभि प्रकाशम्
चक्रोरोजावरुणकिरणाच्छादना पीडयास्या:
ज्ञातास्वादो विपुलजघना को विहातुं समर्थ:
वर्त्मन्यस्मिन् विविधगिरयस्त्वत्परिरियन्द मन्दी
भूतोत्तापा: क्षितिरुहदलैस्तेऽपनेष्यन्ति खेदम्
पुष्पामोदी करिकुलशतै: पीयमानस्तवात:,
शीतो वायु: परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्।[1]

---

१—विज्ञप्ति लेख संग्रह पृ० १००, १०१।

कलचुरी कालीन जैन मूर्ति कला



त्रिपुरी ( जबलपुर ) में मुनि जी के प्रयास से प्राप्त प्रतिमा का चित्र



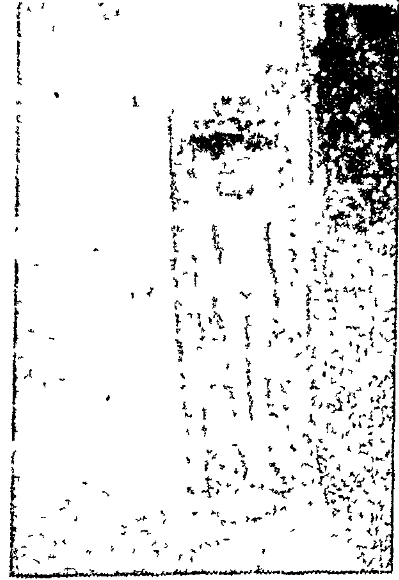
भुवनेश्वर के समीप खण्डगिरी गुफा में स्थित जैन मन्दिर का प्रवेश द्वार

# श्रमण संस्कृति और कला

卐 卐



प्रवेश द्वार-सांची स्तूप
( भोपाल )



卐 卐

कलचुरी कालीन जैन मूर्ति कला
त्रिपुरी (जबलपुर) में
प्राप्त प्रतिमा



ऐलोरा गुफा में स्थित अत्यन्त आकर्षक
८ वीं शताब्दी का कैलाश मंदिर
ऐलोरा ( हैदाबाद )

विबुधविमलसूरिजी ने भी इलोरा की यात्रा की थी—

*विहार करता आवोयारे, इलोरा गाम मभार*
*जिन जात्रा ने कारणे हो लाल।*
*सटदरिसण तिहां जाणीएरे, जाए विवेकवन्तरे, मुनीसर*
*तत्वधरी वीजीवारने हो लाल ॥*[1]

सुप्रसिद्ध पर्यटक और जैनमुनि श्री शीलविजयजी भी अठारहवीं शती में यहां आये थे। तीर्थमाला के निम्न पद्य से ज्ञात होता है—

*इलोरि अति कौतुक वस्यू जोतां हीयडु अति उल्हस्यू,*
*विश्वकरमा कीधु मडाण त्रिभुवन भाव तणु सहिनाण ॥*[2]

उपर्युक्त उल्लेख इस बात के परिचायक हैं कि जैनों का आकर्षण इलोरा की ओर प्राचीन काल से ही है।

## ऐहोल—

बादामी तालुके में यह अवस्थित है। आर्यपुर से इसका रूपान्तर ऐहोल या ऐवल्लि हुआ जान पड़ता है। इसवी सातवीं आठवीं शताब्दी में यहाँ पर चौलुक्यों की राजधानी थी। पूर्व और उत्तर में यहाँ पर गुफाएँ हैं। इसमें सहस्रफणयुक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा अवस्थित है। यह मूर्ति बहुत महत्वपूर्ण है। सापेक्षत यहाँ की गुफा काफी चौड़ी और लम्बी है। जैन कला के अन्य उपकरण भी पर्याप्त हैं।

प्रभु महावीर की आकृति भी यहाँ दृष्टिगोचर होती है। सिंह मकर एवं द्वारपालों का खुदाव, उनका पहनाव एलीफन्टा के समान उच्च शैली का है। वामन रूपिणी स्त्री तो बड़ी विचित्र सी लगती है।

---

१—जैन ऐतिहासिक गूर्जर काव्य संचय पृ० ३१।
२—प्राचीन तीर्थमालासंग्रह पृ० १२१।

गोलाकार पाँच मानवाकृतियाँ खचित हैं। द्वार पर एक जिनमूर्ति है। गुफा के भीतर भी पद्मासन पर तीन जिन प्रतिमा हैं। भीतर जो कमरा है उसकी दीवाल के पास भी पुरुषाकार 'जिन' है। पर वक्षस्थल तथा मस्तक खंडित है। केवल चरण के अवशेष विद्यमान हैं। वृषभ के चिन्ह से ज्ञात हुआ कि यह मूर्ति युगादिदेव की है। सं० १२६६ का एक लेख भी मिला है, जो उत्तर कोने की दीवाल पर था।

## चांदवड़—

यहाँ पर अहल्याबाई होल्कर का जन्म हुआ था। आज भी उनका विशाल और प्रेक्षणीय राजमहल विद्यमान है। प्राचीन जैनसाहित्य में इसका नाम "चन्द्रादित्यपुरी" के रूप में मिलता है। कहा जाता है इसे यादववंशीय दीर्घ पन्नार ने बसाया था। ८०१ ईस्वी से १०७३ यादवों का राज्य रहा। यह नगर पहाड़ के निम्न भाग में बसा है। पहाड़ की ऊँचाई ४०००–४५०० फुट है। इस पर जाने का मार्ग बड़ा विलक्षण है। पैर फिसलने पर बचने की आशा कम ही समझनी चाहिये। पहाड़ी पर जाते हुए आधे रास्ते में रेणुकादेवी का मन्दिर आता है। न जाने यह रेणुकादेवी का स्थान कबसे प्रसिद्ध हो गया। वस्तुतः यह जैन गुफा है। यद्यपि बहुत बड़ी नहीं है पर शिल्प स्थापत्य की दृष्टि से निःसंदेह महत्वपूर्ण है। गुफा में तीनों ओर की दीवालों में तीर्थंकरो की विस्तृत परिकरवाली अत्यन्त सुन्दर कोरनीयुक्त मूर्तियाँ खुदी हैं। शासनदेव-देवियों की मूर्तियाँ भी काफी है। जैन गुफा निर्माणकला का एक प्रकार से यह अंतिम प्रतीक जान पड़ता है। कारण कि इसमें विकसित मूर्तिकला के लक्षण भलीभांति परिलक्षित होते हैं। प्रत्येक यक्ष-यक्षिणिये अपने वाहन और आयुधों से सुसज्जित तो हैं ही साथ ही साथ मुखाकृति भी जैन शिल्प शास्त्रानुसार है। जैनमूर्ति निर्माणकला-विकास की परंपरा इसके एक-एक चप्पे पर लक्षित होती है। इसके मूलनायक चन्द्रप्रभु जी हैं। सभी मूर्तियाँ सिन्दूर से बुरी तरह पोत दी गई हैं और

प्रतिदिन तैल स्नान करती है। जनता ने इसे अपने ऐहिक स्वार्थपूर्ति का तीर्थ बना रखा है। बलिदान भी १६३८ तक होता था। पडे लोग यहाँ के बडे पटु हैं। यदि उनको पता चल जाय कि प्रेक्षक जैन हैं तो फिर भीतर दीपक का उपयोग न करने देंगे। कारण कि वे जानते हैं कि ये मूर्तियाँ जैन हैं—जैसा कि काफी झगडे के बाद तय हो चुका है। पर वे अपने पेट पालने के लिये इन्हें छोड भी नहीं सकते। जैनियों का, दुर्भाग्य से इन पर ध्यान ही नहीं है।

## सित्तन्नवासल—†

दक्षिण भारत में जैनसंस्कृति का अच्छा प्रभुत्व है। वहाँ के सांस्कृतिक और नैतिक विकास मे जैनों का योग रहा है। सित्तन्नवासल पडुक्कोटा से वायव्य कोण में नवें मील पर अवस्थित है। यहाँ पर पाषाण के टीलों की गहराई में जैनगुफा उत्कीर्णित है। ईस्वी पूर्व तीसरी शती का एक ब्राह्मी लेख भी उपलब्ध है। इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि जैन मुनियों के वासार्थ इसका निर्माण किया गया। इन गुफाओं में जैन मुनियों की सात समाधि-शिलायें हैं। प्रत्येक की लम्बाई ६—४ फुट है। गुफा १००—५० फुट है।

वास्तुशास्त्र की दृष्टि से जितना महत्व है उससे भी कहीं अधिक महत्त्व चित्रकला की दृष्टि से है। मनोहर चित्र काफी अच्छे हैं। इनकी शैली अजन्टा से साम्य रखती हैं। इनकी रेखाओं के अनुशीलन से मूर्ति कला पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है।

---

† इसका मूल नाम 'सिद्धण्ण-वास = सिद्धों का डेरा" है।

भारतीय अनुशीलन पृ० ७

इतिहास और जैनागम-साहित्य से यह ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व छठवीं शती में यक्ष मन्दिरों का सामूहिक प्रचलन था। परन्तु उन मन्दिरों का उल्लेख "चैत्य" शब्द से किया गया है। आज भी हम लोग "चैत्यालय" "चैत्यवंदन" आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु यहाँ पर देखना यह है कि उन दिनों "चैत्य" शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता था क्या आज भी हम उसी अर्थ में लेते हैं या तद्भिन्न। क्योंकि "चैत्य" शब्द की व्युत्पत्ति "चिता" से मानी जाती है। महापुरुषों के निर्वाण या दाह-स्थानों पर उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिये वृक्ष लगाये जाते थे या प्रस्तर-खंड तथा शरीर के अवशेष रखकर मढ़िया[1] बना दी जाती थी। धीरे धीरे पूज्य पुरुषों की प्रतिमाएं बनने लगीं और बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण होने लगा। पण्डित बेचरदास जी की उपर्युक्त मान्यता शब्दशास्त्र की दृष्टि से भी युक्ति-संगत नहीं जान पड़ती। क्योंकि इस तर्क के पीछे कोई सांस्कृतिक विचारधारा या अकाट्य प्रमाण नहीं है[2]। डा० प्रसन्नकुमार आचार्य ठीक कहते हैं—कि चैत्य या कब्रों से मन्दिरों का कोई सम्बन्ध न था।

डॉ० आचार्य लिखते हैं—"कल्पसूत्र के कुछ अंश को शुल्म-सूत्र कहते हैं, जिसमें वेदी बनाने की रीति और उनकी लम्बाई आदि दी है। इनमें "अग्नि" या ईंटों से बनी हुई वृहत्तर वेदियों की रीति

---

१—जबलपुर के निकट एक लघुतम पहाड़ी पर जैन चैत्यालय है जिसे लोग "मढ़िया" कहते हैं। लोगों का विश्वास है कि रानी दुर्गावती की पीसन-हारी ने—जो—जैन थी, स्वोपार्जित वित्तसे इस कृति का सृजन करवाया था। दोनों मढ़ियों पर आज भी चक्की के दो पाट लगे हुए हैं। इनसे उनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। पद्मपुर आदि और भी अनेक स्थानों पर देवस्थान स्वरूप छोटी सी टपरियाँ मिलती हैं, जिन्हें मध्यप्रदेश में "मढ़िया" कहते हैं। सरोवर तीर पर और पहाड़ियों पर भी ऐसी मढ़ियें मिलती हैं।

२—मंदिर दाहस्थान का सूचक नहीं पर देवस्थान का परिचायक है।

का वर्णन है। ये वेदी सोमयज्ञ की थीं, जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौर पर हुआ था। सम्भवत यहीं से मंदिर निर्माण का सूत्रपात होता है[1]।" महामहोपाध्याय स्व० गौरीशंकरजी ओझा सूचित करते हैं "ईस्वी पूर्व २००० नगरी के शिला लेख में सकर्षण और वासुदेव की मूर्तिपूजा के लिये मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है।[2]

ऐतिहासिक उल्लेखों से तो यही ज्ञात होता है कि प्राप्त मूर्तियों में सर्व प्राचीन प्रतिमाएं जैनों की है, जैसा कि ऊपर के भाग में सूचित किया जा चुका है। परन्तु एक बात का आश्चर्य अवश्य होता है कि जितना प्राचीन जैन पुरातत्व उपलब्ध हुआ है उतना ही अर्वाचीन एतद्विषयक साहित्य है। अर्थात् प्रतिमाओं का इतिहास मोहन-जो-डडो तक पहुँचाता है तो शिल्प विषयक ग्रन्थों का निर्माण ११ वीं शती बाद का मिलता है। प्रथम "साहित्य" या "कृति" यह प्रश्न उठता है। और विशेषता इस बात की है जिन प्रतिमाओं की सृजन शैली में कालानुसार भले ही परिवर्तन हुआ पर मौलिकता में बरोबर समानता रही। जिन दिनों मूर्ति का निर्माण हुआ उन दिनों कलाकारों के सम्मुख साहित्य था या नहीं ? नहीं कहा जा सकता, कारण कि मूर्तिकाल तक के प्राचीन मन्दिर ही अनुपलब्ध है। मूर्ति और मन्दिर का प्रश्न जहा आता है वहा उनके प्रतिष्ठा विधान विषयक एवं वास्तुशास्त्र की समस्या भी खडी होती है। गवेषक की इन शंकाओं का समुचित समाधान हो सके ऐसा प्राचीन साहित्य नष्टिवत् ही है। हा इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि विक्रम की प्रथम शती में जब पादलिप्तसूरिजी ने निर्वाण कलिका की रचना की उस समय शिल्प का थोडा बहुत साहित्य अवश्य ही

---

१—प्राचीन भारतवर्ष १, पृ० ८।

२—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति।

है। वह लिखता है कि जैन मन्दिर नगर के बाहिर और वैष्णव मन्दिर नगर के मध्य में होना चाहिये। मुझे तो ऐसा लगता है कि गुफा-मन्दिर अक्सर पहाड़ियो में हुआ करते थे और बहुसंख्यक जैनमन्दिर भी स्वाभाविक शांति के कारण बाहिर बनाये जाते थे। अतः उसने लिख दिया कि बाहिर होना चाहिये। पर इतिहास और साहित्य से मानसार के साम्प्रदायिक उल्लेख की पुष्टि बिल्कुल नहीं होती।

शान्तिक, पौष्टिक, जयद, आदि मन्दिरों के नाम मानसार में हैं। प्रत्येक का मान भिन्न २ है। इन शैलियों से भी यही ज्ञात होता है कि लेखक पारम्परिक साहित्य से प्रभावित तो हुआ है पर इससे भी अधिक सहारा प्रत्यक्ष कृतियों से लिया है। नागर, वेसर और द्राविड तीनों प्रकार का विश्लेषण डा० प्रसन्नकुमार आचार्य ने आर्किटेक्चर एकॉर्डिंग टू मानसार-शिल्पशास्त्र में भली भांति किया है।

यहां तक तो मन्दिर की चर्चा इस प्रकार चली है कि उसमें जैन मन्दिर, बौद्ध मन्दिर या हिन्दू मन्दिर जैसी कोई साम्प्रदायिक चीज नहीं है। यहां पर मन्दिरों के निर्माण के विषय में म० म० श्री गौरीशंकर जी ओझा का मत जान लेना आवश्यक है। वे लिखते हैं—

*"ईस्वी सन की सातवो शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक के सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलम्बियों के अर्थात् ब्राम्हणों के मन्दिर अबतक किसी न किसी दिशा में विद्यमान है। देश भेद के अनुसार इन मन्दिरों की शैली मे भी अन्तर है। कृष्णानदी के उत्तर से लेकर सारे उत्तरीय भारत के मन्दिर आर्य शैली के हैं और उक्त नदी के दक्षिण के द्राविड़ शैली के। जैनो और ब्राम्हणों के मन्दिरों की रचना में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि जैन मन्दिरों के स्तम्भो छतो आदि में बहुधा जैनों से सम्बन्ध रखनेवाली मूर्तियां तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती है और ब्राम्हणो के मन्दिरों मे उनके धर्म सम्बन्धी, बहुधा जैनों के मुख्य मन्दिर के चारों ओर*

छोटी छोटी देवकुलिकाएं बनी रहती हैं जिनमें भिन्न भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएं स्थापित की जाती हैं। ब्राम्हणों के मुख्य मन्दिरों के साथ कहीं कहीं कोनो में चार और छोटे-छोटे मंदिर होते हैं।

'ऐसे मंदिरों को पंचायतन मंदिर कहते हैं। ब्राह्मणों के मंदिरों में विशेषकर गर्भगृह रहता है, जहां मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मंडप। जैन मंदिरों में कहीं कहीं दो मण्डप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। दोनों शैलियों के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भाग पर आमलक नामका बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और कहीं ध्वजदंड भी होता है।'[1]

आर्य और द्रविड दोनों शैलियों के जैनमन्दिर पर्याप्त मिलते हैं। उत्तर भारतीय मन्दिरों की जिस आर्य शैली की चर्चा ओझाजी ने की है, उसमें भी प्रान्तीय भेदों को लेकर कई उपशैलियां बन गई हैं। विशेषकर शिखर में तो बहुत ही परिवर्तन हुए हैं। कई स्थानों पर एक ही शैली के मन्दिर होते हुए भी उनमें कलात्मक वैभिन्य परिलक्षित होता है। नागर[2] द्राविड वेसर इन तीन शैलियों का उल्लेख मानसार में इस प्रकार आया है—

> नागर द्राविड चैव वेसरच त्रिधा मतम्।
> कण्ठादारभ्य वृत्तं यद्वेसरमिति स्मृतम्॥
> ग्रीवमारभ्य चाष्टाश्र विमानं द्राविडाख्यकम्।
> सर्वं वै चतुरश्रं यत्प्रासादं नागरं त्विदम्॥

---

१—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० १७५-६।

२,३-दोनों शैलियों का विवेचन शिल्प ग्रन्थों में तो मिलता ही है। स्व० जायसवाल जी ने इतिहास के आधार पर "अन्धकार युगीन भारत" में भी विचार किया है।

और अहमदाबाद आदि नगरों के जैन मन्दिरों में काष्ठ पर सुन्दर खुदाई के प्रतीक मिलते हैं।[1]

भारतीयकलातीर्थ स्वरूप जैनमन्दिरों की कला का आज तक समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ, जैनों ने कभी इन पर ध्यान ही नहीं दिया, जैसे वह हमारी कलात्मक सम्पत्ति ही न हो। कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से "हिन्दू टेम्पिल" नामक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें दर्जनों चित्र हैं। एक हंगेरियन स्त्री डा० स्टेला क्रेमरीश ने इसे सश्रम तैयार किया है। मैंने उनसे कहा था कि आपका कार्य अपूर्ण है। जैनमन्दिरो के बिना वह इतिहास और शिल्प का परिचय पूर्ण हो ही नहीं सकता। उनने कहा कि मेरा दुर्भाग्य है कि मैं जैनाश्रित कलाकृतियों के श्रम करके भी प्राप्त न कर सकी। कुछ स्थानों पर मैं गयी तो चित्र लेने ही नहीं दिये और शाब्दिक सत्कार की तो बात ही क्या। मैं तो बहुत ही लज्जित हुआ कि आज के युग में भी हमारा समाज संशोधक को न जाने क्यों घृणित दृष्टि से देखता है। मेरे लिखने का तात्पर्य इतना ही है कि हमारी सुस्ती हमें ही बुरी तरह खाये जा रही है, न जाने आगामी सांस्कृतिक निर्माण में जैनों का कैसा योगदान रहेगा, वे तो अपने ही इतिहास के साधनों पर उपेक्षित मनोवृत्ति रक्खे हुए हैं। इससे तो दुःख होता है। जैन मन्दिरों में से जो भारतीय शिल्प और वास्तुकला की दृष्टि से अनुपम मन्दिर हैं उनका एक आल्बम तैयार होना चाहिए जिसमें मन्दिर और उनकी कला के क्रमिक विकास पर आलोक डालने वाला विस्तृत प्रास्ताविक भी हो।

---

१—भारतवासियों ने चित्र एवं शिल्प में काष्ठ का सफल प्रयोग कर प्रमाणित किया है कि भावों के माध्यम के लिये विशेष प्रकार का उपकरण ही अपेक्षित नहीं है ऐसी बात नहीं है किसी भी प्रकार की चीज को कलाकार माध्यम बना सकता है। विशेष के लिये देखिये कल्याण—हिन्दू संस्कृति अंक में मेरा निबंध—भारतीय शिल्प और चित्रकला में काष्ठ का उपयोग।

## ४ मानस्तम्भ—

मध्यकालीन भारत में जैनमंदिर के सम्मुख विशाल स्तंभ बनवाने की प्रथा विशेषत दिगम्बर जैनसमाज में रही है। दक्षिण भारत में ऐसे स्तम्भों की उपलब्धि प्रचुर परिमाण में हुई है। प्राचीन वास्तु विषयक ग्रन्थों में कीर्तिस्तभो की आंशिक चर्चा अवश्य है पर मानस्तभो के विषय में वे मौन हैं। यद्यपि जैन पौराणिक साहित्य तो उसका अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से बताता है पर उतने प्राचीन या सापेक्षत अर्वाचीन स्तभ उपलब्ध नहीं हुए। गुप्तों के बाद इस प्रथा का सूत्रपात हुआ होगा। उपलब्ध साधनों से तो यही कहा जा सकता है कि बौद्धों के स्तभो को देखकर जैनो ने मानस्तभ की कल्पना की हो तो आश्चर्य नहीं। खैर जो कुछ हो। परन्तु इतना निश्चित है कि मध्यकाल में जैन वास्तुकला का वह एक अग बन गया है।

ये मानस्तभ इन्द्रध्वज का प्रतीक होना अधिक युक्ति संगत जान पडता है। भगवान के विहार के आगे वह रहता था। देवगढ आदि में पाये गये मानस्तभ के अवशेषों से यह फलित होता है कि मानस्तभों की मौलिक परपरा भलेही एक-सी रही हो पर प्रांतीय कला विषयक एव निर्माण शैली सम्बन्धी पार्थक्य स्पष्ट है। देवगढ आदि में पाये जाने वाले अधिक मानस्तभ ऐसे हैं जिनके ऊपर के भाग में शिखराकृति जैसी आकृति है। दक्षिणखड और महाकौशल के भू भाग में मैंने जितने भी अवशेष देखे उनके छोर पर चतुर्मुख जिन प्रतिमाए खुदी हुई हैं। ये स्तभ चपटे और गोल तथा कई कोनों के बनते थे। एक अवशेष मेरे संग्रह में सुरक्षित है। मुझे यह विलहरी से प्राप्त हुआ था।

मानस्तभ पर मूर्तियाँ रखने का कारण लोग तो यह बताते है कि शूद्र दूर से ही दर्शन कर सकें। इसमें तथ्य कितना है यह तो वे ही जानें जो ऐसी बातें बताते हैं। जैन मन्दिर की सूचना इससे अवश्य मिल जाती है। ये स्तभ काष्ठ के भी बनते थे, पर बहुत कम। दक्षिण के स्तभ कलाकी दृष्टि से अनुपम है। यहा मानस्तभो पर यक्ष-यक्षिणियों के आकार खुदे

हुए पाये जाते हैं। अभी तक इस मूल्यवान् सामग्री पर न जाने समाज ने क्यों ध्यान नहीं दिया।

## चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ—

कीर्तिस्तम्भो की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन कीर्तिस्तम्भों पर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं डाला गया। इस कारण बहुत से कीर्तिस्तम्भो को लोगों ने मानस्तम्भ ही समझ रखा है। चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ १५वीं शताब्दी की कला का भव्य प्रतीक है। उसमें जैनमूर्तियों का खुदाव आकर्षक बन पड़ा है। इसका शिल्प भास्कर्य प्रेक्षणीय है। दृष्टि पड़ते ही कलाकार की दीर्घकाल व्यापी साधना का अनुभव होता है। इस स्तम्भ के सूक्ष्मतम अलंकरणों को शब्द के द्वारा व्यक्त करना तो सर्वथा असंभव ही है। इतना कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण स्तंभ का एक भाग भी ऐसा नहीं जिस पर सफलतापूर्वक सुललित अंकन न किया गया हो। सचमुच में यह श्रमणसंस्कृति का एक गौरव स्तम्भ है।

इसकी ऊंचाई ७५॥। फुट है। ३२ फुट का व्यास है। अभी तक लोग यह मानते आये हैं कि इसका निर्माण १२वीं शती या इसके उत्तरवर्तीकाल में बघेरवाल वंशीय साह जीजा ने करवाया था और कुमारपाल ने इसका जीर्णोद्धार कराया[1] एकमत ऐसा भी है कि यह वि० सं० ८९५ में बना[2]। उपर्युक्त दोनों मत भ्रामक हैं। आश्चर्य होता है निर्णायकों पर कि उन्होंने इसकी निर्माणशैली को तनिक भी समझने की चेष्टा न की। अस्तु।

इस गौरव स्तंभ के निर्माता मध्यप्रदेशान्तर्गत कारंजा निवासी पुनसिंह है और १५वीं शताब्दी में उनने इसे बनवाया था, जैसा कि नान्दगाँव

---

१—प्राचीन जैन स्मारक।

२—जैन सत्य प्रकाश व० ६ पृ० १९९।

# श्रमण संस्कृति और कला

सेठ लालचन्द्र जैन दमोह

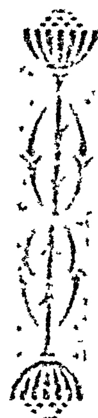


संस्थापक

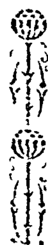
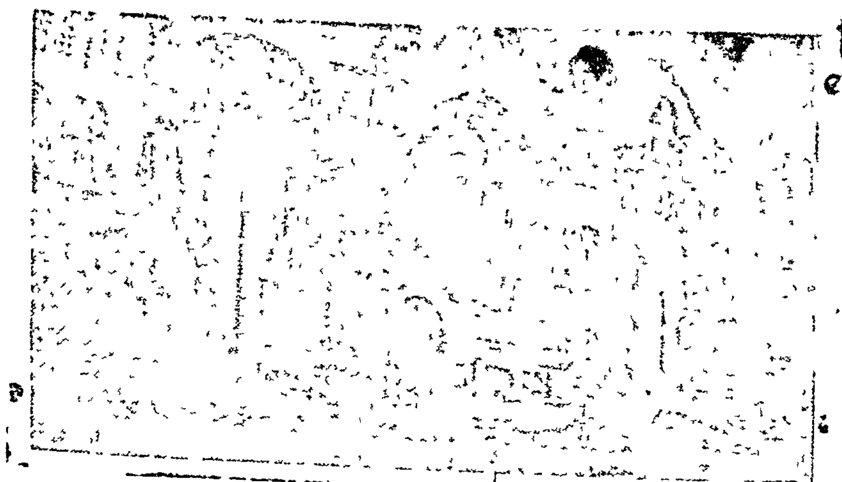
सम्राट चन्द्रगुप्त साहित्य सदन

४८१ सुभाष पथ जबलपुर





कीर्ति स्तम्भ चित्तौड़


ग्वालियर किले की विशाल चट्टानों में अंकित ५७ फीट ऊँची जैन प्रतिमायें

के मन्दिर की एक धातु प्रतिमा के लेख से ज्ञात होता है। इस लेख को प्राप्त करने में मुझे काफी कठिनाइयों का सामना करना पडा था। लेख इस प्रकार है—

*स्वस्ति श्री सवत् १५४१ वर्षे शाके १४०१ (१४०६) प्रवर्त्तमाने कोधीता सवत्सरे उत्तरगणे मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वातिनक्षत्रे योगे र करणे मि० लग्ने श्रीबराट् (? ड) देशे कारजानगरे श्री श्रीसुपार्श्व-नाथ चैत्यालये श्रीम (? मू) लसघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत्— वृषसेन—गणधराचार्य पारंपर्योद्गत श्रीदेववीर भट्टाचार्या ॥ तेपा पट्टे श्रीमद्माय राजगुरु वसुन्धराचार्य महावादवादीश्वर रायवादिपिंवा महासकलविद्वज्जन सार्घ (र्व) भौम साभिमान वादीभसिंहाभिनय— त्रै विश्वसोमसेनभट्टार्काणामुपदेशात् श्रीवघेरवाल जाति खडवाड गोत्रे अष्टोत्तरशतमहोत्त गशिखरवद्धप्रासादसमुद्धरणधीर त्रिलोक श्री जिनमहाबिम्बोद्धारक-अष्टोत्तरशत श्रीजिनमहाप्रतिष्ठाकारक अष्टादशस्थाने अष्टादशकोटि श्रुतभडारसस्थापक, सवालक्षबन्दीमोक्षकारक, मेदपा-देशे चित्रकूटनगरे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्रचैत्यालयस्थाने निजभुजो पार्जितवित्तबलेन श्रीकीर्तिस्तभआरोपक साह जिजा सुत सा० पुन सिहस्य • साहदेउ तस्यभार्या पुई तुकार तयो पुत्राश्चत्वार तेपु प्रथम पुत्र साह लखमण चैत्यालयोद्धरणधीरेण निजभुजो-पार्जितवित्तानुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ चेत्र ।*

दुर्भाग्य से यह लेख इतना ही उपलब्ध हुआ है। कारण कि आगे का भाग प्रयत्न करने पर भी मैं न पढ़ सका, घिस-सा गया है। फिर भी उपलब्ध अंश से एक चलती हुई भ्रामक परपरा को प्रकाश मिला।

यद्यपि यह स्तंभ दिगम्बर जैन परंपरा से सम्बन्ध रखता है, पर श्वेताम्बर मुनियों ने अपनी तीर्थमालाओं में इसे गौरवपूर्ण स्थान दिया है। ये तीर्थमालाएँ स्तम्भ प्रतिष्ठा के कुछ ही काल बाद की है। चित्तौड़ में और भी एक कीर्ति-स्तम्भ है। आबू में भी एक जैन कीर्तिस्तम्भ पाया गया है।

## ५ भाव शिल्प—

इस भाग में केवल वे ही कृतियाँ नहीं आती जिन्हें कलाकार अपनी स्वतन्त्र कल्पना द्वारा, विभिन्न रेखाओं में प्राकृतिक भावों को व्यक्त करता है। अपितु उनका भी समावेश होगा जो दृश्यशिल्प से सम्बद्ध है। शिल्प शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। वास्तुकला उसका एक भेद है। इसीके द्वारा—कलाकारों ने भारतीयजीवन और संस्कृति के अमर तत्वों को समुचित रूप से अंकित किया है। जैनों ने जिनमूर्ति, मन्दिर और तदंगीभूत उपकरणों का जहां निर्माण करवाया, वहां पर पौराणिक कथा-साहित्य के और जैनधर्म के आचार प्रतिपादक दृश्यों का भी उत्खनन करवाकर, शिल्प-वैविध्य में अभिवृद्धि की। जैन इतिहास की विशिष्ट घटनाओं को जिस प्रकार साहित्यकारों ने अपनी शब्दावलियों में बांधा उसी प्रकार कुशल शिल्पियों ने अपनी छैनी से कठोर प्रस्तर पर उन्हें उकेर कर उनकी सत्यता पर मुहर लगाई। भारतीय शिल्पकला में, इस शैली को श्रमणसंस्कृति ने ही सर्वाधिक प्रश्रय दिया।

प्राचीन मन्दिर और तीर्थस्थानों में विशिष्ट भावसूचक शिल्प की अच्छी सामग्री सुरक्षित रह सकी है यह समाज का सौभाग्य है। ये हमारी संस्कृति को तो आलोकित करते ही है भारतीयजीवन के बहुमूल्य इतिहास पर भी प्रकाश डालते हैं। भारतीय समाज और लौकिक रीति-रिवाजों का निदर्शन इन्हीं के द्वारा संभव है। साध्य के प्रति साधकों की स्वाभाविक भक्ति का सक्रिय रूप ही आचार विषयक परंपरा को अधिक काल तक चला सकता है।

जैनाश्रित कला का परम पुनीत क्षेत्र मथुरा में ऐसी कृतियाँ मिली हैं। इनसे भगवान महावीर के जीवन पट पर प्रकाश डालने वाले साहित्यिक उल्लेखों की सत्यता सिद्ध होती है [1]। जैन गुफाओं में भी अनेक कथा प्रसग दृष्टि गोचर होते हैं।

---

१—भारतना जैम तीर्थो अने तेमनु शिल्प-स्थापत्य प्लेट ८

मध्यकालीन भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला का प्रधान क्षेत्र पश्चिम भारत रहा है। वहाँ के राजवंश और उनके अधिकारी तथा श्रीमानों ने स्वस्थ सौन्दर्य की उपासना में सहायक, ऐसे अनेक स्थानों का निर्माण करवाया। आबू का स्थान इन सब में प्रथम आता है। जनाश्रित शिल्पकला की अनुपम सामग्री एक साथ अन्यत्र दुर्लभ हैं। जैनसंस्कृति के आचार और विचार का मूर्तिमत रूप वहाँ की विशेषता है। आध्यात्मिक सौन्दर्य को उद्बुद्ध करनेवाली आचार परंपरा को यहाँ के कुशल कलाकारों ने नहीं भुलाया। जैन संस्कृति के व्यापक एवं उत्प्रेरक भावों का यहाँ पर अनुपम संग्रह है। ये न केवल आचार पद्धति का ही मूक समर्थन करते हैं अपितु इतिहास को भी उज्वल करते हैं। विमलवसहि में ऐसे दृश्यों का प्राचुर्य है। कहीं साधक वीतराग परमात्मा की श्रद्धा पूर्वक आराधना कर रहा है, कहीं त्यागियों की वाणी श्रवण कर रहा है और आशीर्वाद प्राप्त कर अपने को धन्य मानता है। कहीं पूजन विधान का दृश्य है तो कहीं गंभीरतम भावों का सफल अंकन है। तात्पर्य कि जैनों की प्राथमिक क्रियाओं को भी कलाकार ने अपनी उच्चतम कल्पना द्वारा व्यक्त कर सामान्य पत्थरों को भी कलापूर्ण बना दिया है।

पौराणिक कथा प्रसंगोंमें भरत बाहुबलि युद्ध, बहन ब्राम्ही और सुन्दरी द्वारा प्रतिबोध, आर्द्रकुमार के जीवन की विशिष्ट घटना हस्ति तापसबोध, श्रीकृष्ण का कालिय अहिदमन, अश्वावबोधतीर्थ—शमलिका विहार की घटना के अतिरिक्त पञ्चकल्याणक, पार्श्वनाथजी की कमठ वाली घटना शान्तिनाथजी का प्रसंग नेमिकुमार का सम्पूर्ण चरित्र और श्रेयांसकुमार का दान आदि कई प्रसंग उत्कीर्णित है। पश्चिम भारत के प्राचीन मन्दिरों में इनमें से कुछेक प्रसंग अवश्य ही खुदे हुए मिलेंगे। विन्ध्यप्रांत [१] में तो

१—विन्ध्यप्रान्त में जैनाश्रित शिल्पस्थापत्य नामक मेरा निबन्ध देखिये, ज्ञानोदय, सं० १५–१६–१६।

जिन प्रतिमाओं के परिकर में ही कुछेक घटनायें अंकित रहती हैं। ऐसी मूर्तियाँ जसौं में मैंने देखीं हैं। तोरण द्वार में भी भावसूचक शिल्प का अच्छा आभास मिलता है। अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण बहुसंख्यक लोग इन्हें समझ नहीं पाते, बल्कि कहीं कहीं तो ये टूटे-फूटे अवशेष निकाल बाहर करते हैं। प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार करवाने वालों को बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए।

भावशिल्प में भोगासनो का भी समावेश करना अनुचित न होगा, कारण कि कुछ लोगों ने यह समझ रखा है कि यह तो तांत्रिकों की देन है, जैनों में इसका प्रचलन परिस्थिति जन्य है। परन्तु यह कोरी भ्रमणा है। राणकपुर, तारंगा, आबू, शत्रुंजय और आदि कई स्थानों पर इस प्रकार की आकृतियाँ गुप्त या खुले तौर पर खुदी हुई मिलती है। आरंग (जि० रायपुर मध्यप्रदेश) के जैनमन्दिर का पूरा शिखर इन आसनों से भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में हम यह तो कह ही नहीं सकते कि उनको शिल्पियों ने दृष्टि चुकाकर बना दिये होंगे। इनके रहने से दृष्टिदोष टल जाता है यह भी दलील कोई अर्थ रखती हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। परन्तु सत्य इतना है कि ये आकृतियाँ वृहत्तर शिल्प कृतियों में अवश्य दृष्टिगोचर होंगी ही। धर्मस्थानों से सचमुच में इनका कुछ सम्बन्ध न होना चाहिये। जहाँ तक मैं समझा हूँ, यह काल विशेष की देन है। एक समय था प्रत्येक धर्म के मन्दिर और तीर्थों में इनकी स्थिति आवश्यक मानी गई थी। ऐसी हालतमें जैन समाज कैसे बच सकता था। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस विकार युक्त दृष्टिकोण से आज की जनता उसे देखती है क्या वही दृष्टिकोण उन दिनो भी था? कलाकार अपनी कृतियां के निर्माण-समय कृति के गुण दोष पर ध्यान नहीं देता पर आत्मिक भावों को कल्पनाओ द्वारा व्यक्त करने मे तत्पर रहता है। वस्तु का निर्माण होने के बाद उसे आलोचना का विषय बनाना सार्थक है।

यहाँ पर मैं भावशिल्प की एक और दिशा की ओर संकेत कर

दूँ कि रेखाओं के अतिरिक्त कुछ लेखनकला की सामग्री भी शिल्प में आजाती है। जैसे कि मन्दिरों में शतदल या सहस्त्रदलकमल की पंखुड़ियों में भगवान् में स्तुतियाँ मिलती हैं वे भी जैनाश्रित कला की गौरव गरिमा में अभिवृद्धि करती हैं। स्तम्भों पर ऐसी आकृतियाँ अक्सर खुदी रहती हैं।

धर्मपरायण जनता ने भावशिल्प की परंपरा और उसके नैपुण्य में उन्नति की है वह आज भी अनुकरणीय है।

राणकपुर और कुम्भारियाजी के जिनमन्दिरों में भी—कई भाव शिल्प के उत्कृष्ट प्रतीक पाये गये हैं। इस प्रकार की साधन-सामग्री बहुत से खंडहरों में भी अनायास उपलब्ध हो जाती है। मन्दिर या धर्म स्थान से सम्बद्ध अवशेषों के भाव तो प्रसंग को लेकर समझ में आजाते हैं पर एकाकि कोई टुकड़ा मिल जाय तो उसे समझना कठिन हो जाता है। शास्त्रीय एवं अन्यावशेषों के ज्ञान बिना ऐसी समस्या नहीं सुलझती। मैं अपना ही अनुभव दे रहा हूं। एक दिन मैं रायल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के रीडिंग-रूम में अपने टेबल पर बैठा था, इतने में मित्रवर्य श्री अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली हैं—जो भारतीय कला के महान समीक्षक हैं और 'रूपम' के भूतपूर्व सम्पादक—मुझे एक नवीन शिल्पाकृति का फोटू दिया, उनके पास बड़ोदा पुरातत्व विभाग की ओर से आया था कि वे इस पर कुछ प्रकाश डालें, मैंने उसे बड़े ध्यान से देखा, बात समझ में आई कि यह नेमिनाथजी की बरात है। पर वह तो तीन चार भागों में विभक्त थी, प्रथम एक तृतीयांश में नेमिनाथजी विवाह के लिए रथ पर आरूढ होकर जा रहे हैं, पथ पर मानव समूह उमड़ा हुआ है, विशेषता तो यह थी सभी के मुख पर हर्षोल्लास के भाव झलक रहे थे, रथके पास पशु-दल रुद्ध था, आश्चर्यान्वित भावों का व्यक्तिकरण पशुमुखों पर बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त किया गया था, ऊपर के भाग में रथ पर्वत की ओर प्रस्थित बताया है। इस प्रकार के भावों की स्थिति अन्यत्र भी मैंने देखी है पर इसमें तो और भी विशिष्ट भाव थे जो अन्यत्र

शायद आज तक उपलब्ध नहीं हुए। यही इसकी विशेषता है। ऊपर के भाग में भगवान का लोच बताया है, देशना भी है और निर्वाण महोत्सव भी दक्षिण कोने पर राजिमती, की दीक्षा—गुफा में कपड़े सुखाने का दृश्य सुन्दर है इतने भावो का व्यक्तिकरण जैनकला की दृष्टि से बहुत महत्व रखता है। मेरे इसका उदाहरण देने का एक ही प्रयोजन है कि ऐसे साधन जहां कहीं प्राप्त हों तुरन्त फोटू तो उतरवा ही लेना चाहिये।

राजगृह निवासी श्रीयुत बाबू कनैयालाल जी श्रीमाल के संग्रह में एक प्रस्तर पट्टिका सुरक्षित है। इसके निम्नभाग में भगवान महावीर की प्रतिमा है। ऊपर के भाग में एक भाव शिल्प है। इसमें एक महिला चारपाई पर लेटी है। परिचारिकाएं सेवा में उपस्थित है। महिला का उदर कुछ उठा हुआ सा है और ऊपर भाग में चौदह स्वप्न है। इसका सम्बन्ध भगवान महावीर के चरित्र से जान पड़ता है। महिला उनकी माता त्रिशला है गर्भावस्था का यह दृश्य है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल और बाबू पूरणचंद नाहर ने इसका समय १० शती स्थिर किया है। ऑरियंटल कॉन्फरेंस पटना अधिवेशन से लौटते समय उन्होंने इसे देखा था।

मुगल कालीन जैनमंदिरो में जालियो का खुदाव बहुत सूक्ष्म पाया जाता है। और मंदिर के अग्रभाग में मीनार भी है। मीनार का कारण बताया जाता है कि मुगलों के आक्रमणों से वह बच जाता है। मस्जिद समझकर भंजक आगे बढ़ जाते हैं। जालियों की खुदाव काल विशेष की देन है। मैंने गतवर्ष बनारस २-३ जालियां देखी है जो भेलुपुर की दादावाड़ी में लगी हुई हैं। कला की दृष्टि से ये जालियां उत्कृष्ट है। इसका भास्कर्य इतना सूक्ष्म है कि बेल और पुष्पों की नसें तथा मध्यभाग में पड़ने वाली प्रतिच्छाया तक के भाव सफलता पूर्वक उकेरे गये हैं। सभी जालियों का खु[illegible], बोर्डर्स प्रथक-प्रथक है। इनकी सुकुमार रेखाओं पर कोई भी मुग्ध हो सकता है। इसकी रचना काल औरंगजेब के बाद का नही हो सकता। इन जालियो को प्राप्त करने के लिये वहां के एक कला प्रेमी

सज्जन ने चेष्टा की पर जैनसमाज ने अपने अधिकार में रखना ही उचित समझा। जब हमारे गुरुमन्दिर में वह चीज लगी है तो व्यर्थ ही क्यों निकाली जाय। मुझे भारी परिताप के साथ लिखना पड़ता है कि अर्थ लोलुप जैन अपनी कलाकृतियों को आश्चर्य-गृहों में विक्रय तक कर—करवा देते हैं। मुझे अपनी एक यात्रा में एक पुरातत्त्व प्रेमी जैन से भेंट हुई थी जिनका यही पेशा है।

जैनाश्रित भावशिल्प की अखंड परंपरा का इतिहास यद्यपि आज हमारे सामने नहीं है पर एतद्विषयक सामग्री प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। मानव समाज को स्थायी शान्ति की ओर आकृष्ट करना ही इसका विशिष्ट उद्देश्य है। भाव शिल्प का विषय भले ही जैन हो पर वह साम्प्रदायिकता से ऊपर उठी हुई वस्तु है। नैतिकता और परंपरा के ये प्रतीक रस और सौंदर्य की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनमें से प्राप्त होने वाला आनन्द क्षणिक नहीं है। वह आत्मिक भावनाओं को जाग्रत करता है, स्वकर्तव्य की ओर उत्प्रेरित करता है। इसलिये कि वह गुण प्रधान है।

## ६ लेख—

आज के युग में यह बताना नहीं पडेगा कि प्राचीन-लेखों का क्या महत्त्व है। इतिहास और पुरातत्त्व का विद्वान् शिलोत्कीर्ण लेखों की उपेक्षा नहीं कर सकता, कारण कि तात्कालिक घटनावलियों को जानने का सर्वाधिक विश्वस्त साधन लेख ही है। साहित्यादि में अतिशयोक्ति को स्थान मिल सकता है पर लेखों में यह बात सम्भव ही नहीं। वहाँ तो सीमित स्थान में ही सूत्ररूप से मौलिकवस्तु उपस्थित करनी पड़ती है। जैन संस्कृति का सार्वभौमिक महत्त्व इन्हीं लेखों के गंभीर अनुशीलन पर निर्भर है। स्थूल रूप से उपलब्ध लेखों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१ शिलोत्कीर्ण लेख

२ प्रतिमापर खुदे लेख

सापेक्षतः प्रथम भाग के प्राचीन लेख कम मिलते हैं। पुरातन शिलालिपि में सर्व प्रथम स्थान उस लेख का आता है जो वीर नि० ८४ में लिखा गया था [१]। महामेघवाहन खारवेल का लेख भी जैन इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। उदयगिरि-खंडगिरि में और भी प्राकृत लेख उपलब्ध हुए है जिनका सामूहिक प्रकाशन पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी ने किया है। मथुरा के जैनलेख तो हमारी अमूल्य संपत्ति है। डा. याकोबी ने इन्हीं के आधार जैनागमों की प्राचीनता स्वीकार की है। भाषाविज्ञान, इतिहास और समाजविज्ञान की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। पर अद्यावधि इन पर जितना भी कार्य हुआ है वह आंग्लभाषा में है और थोड़ा भ्रमपूर्ण भी। कलकत्ता के बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर ने इनका पुनर्निरीक्षण किया था तथा स्मिथ की भूलों को परिष्कृत कर समस्त लेखों के पाठों को शुद्ध किया था पर उनके आकस्मिक निधन से महान कार्य स्थगित हो गया। जैनसाहित्य में मथुरा विषयक जहां कहीं भी उल्लेख आया है उन सभी को आपने एकत्र कर महत्वपूर्ण सामग्री संकलित कर रखी थी।

गुप्तकाल भारत में स्वर्णयुग माना जाता है। जैनसंस्कृति और इतिहास पर प्रकाश डालने वाले लेख इस युग के नहीं के समान मिलते,

---

१ स्व. काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे यों पढ़ा है—

*विराय भगवत...८४ चतुरासितिवसे...*
*जाये सालिम्मलिनिये रं निविथ माझिमि के ॥*

भारत का सर्व प्राचीन संवत् सूचक लेख है। इस लेख से स्पष्ट है कि उन दिनों राजस्थान में भगवान के भक्त विद्यमान थे।

उदयगिरि (भेलसा) का लेख अवश्य महत्त्वपूर्ण है जो ऊपर आ चुका है। कुछेक मूर्तियों पर भी मिले हैं।

हां इस युग की विशेष सामग्री चूर्णियाँ हैं जिनका महत्त्व भारतीय इतिहास की दृष्टि से अधिक है। कारण कि इनमें वर्णित अधिकतर घटनाएं इतिहास से साम्य रखती हैं।

गुप्तोत्तरकालीन लेख सामग्री प्रचुर है। दक्षिण और उत्तर पश्चिम में जैनों का प्राबल्य था। श्रवणबेल्गोला की ओर पाये जाने वाले लेखों की लिपि कर्णाटकी-कनाडी हैं। दक्षिण भारत के कुछ महत्वपूर्ण लेखों का प्रकाशन विस्तृत भूमिका सहित डा० हीरालालजी जैन के सम्पादकत्व हो चुका है। यद्यपि इसमें केवल श्रवणबेल्गोला एवं तत्सन्निकटवर्ती स्थानों का ही समावेश है फिर भी उस ओर के इतिहास पर इनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

पश्चिम भारत की ओर पाये जाने वाले देवनागरी में हैं। इनकी संख्या इतनी विस्तृत है कि कई भागों में प्रकाशित किए जा सकते हैं। मध्यकाल में चापोत्कट, चौलुक्य और वाघेला के राज्य में जैनों का स्थान बहुत ऊंचा था। राजा भी जैन धर्म को आदर की दृष्टि से देखते थे। जैसलमेर,[1] राजगृह,[2] शत्रुंजय,[3] राणकपुर,[4] गिरनार,[5] हथूंडी,[6]

---

१—जैन लेख संग्रह—जैसलमेर भा० ३।

२—"महत्तियाण वंश प्रशस्ति"

३—ई० स० १८८८-८९ में पुरातत्व विभाग ने यहां के लेख लिये थे उनमें से कुछेक का प्रकाशन एपिग्राफिया इंडिका भागर में हुआ है।

४—आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया वेस्टर्न इंडिया १९०७-८।

५—रीवाइज्ड लीस्ट्स आफ एन्टीकेरीयन रीमेन्स इन दि बाम्बे प्रेसीडेंसी वा० ८ और आर्कियो लोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया वा० २।

६—एपिग्राफिया इंडिका वा०।

आबू[1] देवगढ़[2]। आदि स्थानो पर मूल्यवान शिलालिपियाँ मिलती हैं। इनमें से बहुतो का प्रकाशन एपिग्राफिया इण्डिका तथा इण्डियन एन्टीक्वेरी" तथा पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक कार्यवाही एवं "प्राचीन लेखमाला" हिस्टोरिकल इन्स्क्रिपशन्स ऑफ गुजरात भा० १, २, ३ में छपे हैं। इनके अतिरिक्त बाबू पूर्णचन्दजी नाहर[3] राजस्थान पुरातत्व विभाग के डाइरेक्टर मुनि जिनविजयजी[4] विजयधर्मसूरि[5] नन्दलालजी लोढ़ा[6] डा० भोगीलाल सांडेसरा[7] मुनि श्री पुण्यविजय जी[8] श्रीयुत अगरचंदजी व भंवरलाल नाहटा[9] आचार्य विजयेन्द्र सूरि[10] डा० डी० आर० भांडारकर[11] बुद्धिसागरसूरि[12] श्री सारा-

---

१—एपिग्राफिया इंडिका वा० ८ और कलेक्शन आफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्स्क्रप्शन्स तथा एशियाटिक रिसर्चीज वा० १६ "अर्बुदाचल जैन लेख संग्रह"।

२—देवगढ़ में जैन पुरातन अवशेषों की प्रचुरता है। यहाँ के २०० सौ से ऊपर लेख भारतीयपुरातत्त्वविभाग ने लिये हैं।

३—जैन लेख सग्रह भा १-२-३

४—प्राचीन जैनलेख संग्रह भा १-२

५—धातु प्रतिमा लेख सग्रह भा १

६—श्री जैन सत्यप्रकाश की फाइलों में आपने मालवा के लेख प्रकट करवाये हैं।

७—फॉर्ब्स सभा के त्रैमासिक में धातु मूर्तियो के " "

८—वैयक्तिक संग्रह में है।

९—बीकानेर के २५०० लेखों का संग्रह किया है जो प्रेस में हैं।

१०—निजी संग्रह में काफी लेख हैं।

११—भारतीयपुरातत्त्व विभाग की वार्षिक कार्यवाही में प्रकाशित।

१२—जैनधातुप्रतिमा लेखसंग्रह भाग १-२

भाई नवाब[1] बाबू कामताप्रसादजी जैन[2] जैनाभिनकला के अनन्य उपासक बाबू छोटेलालजी जैन[3] श्रीप्रियतोष बैनरजी एम. ए[4] आदि विद्वानों ने जैनलेखों को प्रकाश मे लाने का पुनीत कार्य किया है। इन पंक्तियों के लेखक का भी एक संग्रह—"जैनधातुप्रतिमा लेख हाल ही मे प्रकाशित हुआ है। जैन सिद्धान्तभास्कर। अनेकान्त, जैनसत्यप्रकाश आदि पत्रों में समय समय पर प्रतिमा लेख प्रकट होते ही रहते हैं।

प्रतिमा लेखों की चर्चा भी आवश्यक है। इसे भी दो भागों में बाँट देना समुचित प्रतीत होता है।

*प्रस्तरप्रतिमा धातु प्रतिमा।*

मौर्यकालीन जैन प्रतिमाए लेख रहित है। कुषाण कालीन सलेख है। गुप्तकालीन कुछ प्रतिमाओं पर लेख खुदे हुए पाये हैं[5]।

बहुसख्यक पुरानी प्रस्तरप्रतिमा लेख रहित ही उपलब्ध हुई है उनकी निर्माण शैली से उनका कालनिर्णय किया जा सकता है। १० वीं शताब्दी के बाद की मूर्तियां प्राय लेख युक्त रहती थीं। ये लेख मूर्ति के अग्रभाग या पृष्ठ भाग में लिखे जाते थे, पर स्थापना करते समय सीमेंट आदि पदार्थ लग-जाने से उनके लेख आधे से अधिक तो नष्ट हो जाते हैं। पीछे के लेख अनुभवी ही दर्पण के सहारे पढ़ पाते हैं। उस ओर परपरा और सतत

---

१—आपने भारत के सभी प्रान्तों के लेखा का अच्छा सग्रह किया है।
२—जैन प्रतिमा लेख सग्रह।
३—जैन प्रतिमा-यन्त्र लेख सग्रह
४—आपने जैन लेखो का सग्रह किया है और उन पर विवेचना भी की है। विशेषकर प्राचीनलेखों पर अपने-अपने महानिबन्ध (थीसिस) में एक प्रकरण ही लिखा है।
५—"इम्पीरियल गुप्त" और "गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स" राखालदास बैनरजी और, फ्लीट।'

का ही निर्देश रहता है। हाँ कुछेक लेख ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं जिनसे समसामयिक घटना पर भी प्रकाश पड़ जाता है। पर ऐसे लेख कम हैं।

प्राप्त लेखों के आधार पर धातुप्रतिमाओं का इतिहास मैंने गुप्तकाल से माना है। उस युग की मूर्तियां लेख वाली हैं। गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाएँ दोनो प्रकार की मिलती हैं। ८ वीं शती के बाद तो इन पर लेख का रहना आवश्यक हो गया था। तदनन्तर धातुमूर्तियों का निर्माण काफी हुआ। लेख लेखन शैली में कुछ परिवर्तन हुआ, पुराने लेखों से तो यह ज्ञात होता है कि आचार्य अपनी परंपरा देते थे और गृहस्थ का नाम ही पर्याप्त समझा जाता था, पर १०वीं शती के बाद आचार्यों ने अपनी परंपरा के साथ गृहस्थों के परिवार का विस्तृत विवरण देना प्रारम्भ किया। सम्वत तिथि, वार, नक्षत्र पर भी ध्यान दिया गया।

धातु प्रतिमाओं पर जो लेख मिल रहे हैं उनकी लिपि बहुत ही सुन्दर और ग्रन्थलेख की स्मृति दिलाती है। भारतीय लिपियों के क्रमिक विकास के अध्ययन में इनकी कम उपयोगिता नहीं है। कारण कि जैनों को छोड़कर भिन्न २ शताब्दियों के लेख अन्यत्र मिलेंगे कहां ? इन लेखों की विशेष उपयोगिता जैन इतिहास के लिए ही हैं तथापि कुछ लेख ऐसे मिल जाते हैं जो महत्वपूर्ण तथ्य को लिए हुए रहते हैं, जैसा कि कारंजा वाला लेख ऊपर दिया जा चुका है।

प्रसंगवश एक बात का उल्लेख अवश्य करूंगा कि श्वेताम्बर समाज ने अपनी मूर्तियों के लेख लेकर कई संग्रहों में प्रकट किये, परन्तु दिगम्बर समाज अभी तक सुसुप्तावस्था में हैं। आज के युग में जैन इतिहास के इस महत्वपूर्ण साधन की ओर उपेक्षा-भाव रखना उचित नहीं। यह कार्य दिगम्बर सम्प्रदाय के पंडित या मुनि अधिक सरलता से कर सकते हैं। औरों के लिये संभव नहीं। मुझे अनुभव है कि लेखों के लेने में कितनी आपत्तियाँ उठानी पड़ती है। यदि प्रत्येक ग्राम के लोग

ही इस कार्य को शुरू कर दें तो एक वर्ष में काफी कार्य हो सकता है।

चरण पादुका और यत्रो के लेख सामान्य ही होते हैं। जैनलेखों से अपरिचित विद्वान अक्सर यह शका उठाते है कि उनकी उपयोगिता जैन समाज तक ही सीमित है। परन्तु मैं इस बात से सहमत नहीं हो सकता। मैंने पश्चिम भारत के कुछ लेखों का विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन किया है, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनमें राजनैतिक और सामाजिक लोक-जीवन की बहुमूल्य सामग्री है। राजा महाराजों के नामों से ही तो उनकी सीमा का समुचित ज्ञान होता है। किसका अस्तित्व कब तक था, कहा तक शासनप्रदेश था, कौन मत्री था, वह किस धर्म का था, उनने कौन २ से सुकृत कार्य किये आदि अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता जैन लेखो से चलता है। लोकजीवन की चीजें भी वर्णित हैं जैसे कि पायली-प्रादेशिक नाप, प्रचलित सिक्के आदि अनेक व्यवहारिक उल्लेख भी है। कामराका बीकानेर पर आक्रमण किसी भी इतिहास से सिद्ध नहीं है पर जैन प्रतिमा लेख में यह घटना खुदी है। गोमटेश्वर के लेखों में तो दूध तक के भाव दिये हैं।

## अन्वेषण—

आज हमारे सम्मुख जन पुरातत्त्व और कला का क्रमलाबद्ध इतिहास तैयार नहीं है। पर एतद्विषयक साधना का अभाव नहीं है। अभाव है सुयोग्य अन्वेषकों का, अध्यवसायी विद्वानों का। बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और विन्ध्यप्रान्त के जगल और खडहरो में अगणित जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य औ मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। मुझे अपने परमपूज्य गुरुवर्य उपाध्याय श्रीमुनिसुखसागरजी महाराज और ज्येष्ठ गुरुबन्धु श्रीमुनिमगल सागरजी महाराज के साथ उपर्युक्त प्रदेशो में विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैंने उपर्युक्त खडहरो में पड़ी हुई कलाकृतियों का यथामति अध्ययन

भी किया है। मेरा तो निश्चित मत है कि अद्यावधि जो सामग्री प्रकाश में आ चुकी उससे भी कहीं अधिक महत्व पूर्ण साधन अभी शोधकी अपेक्षा रखते हैं। अन्वेषित साधन पर हृदय में संतोष कर अपने कार्य की इति श्री न समझनी चाहिये बल्कि उपेक्षित अरक्षित, साधनों की रक्षा एवं उनके समुचित अध्ययन के लिये भी तैयार होना चाहिये। सच्ची संस्कृति का निदर्शन हमें उन्हीं अवशेषों में फैली हुई भावना में मिलता है। हमारे विकास के मानस्तंभ ही हमारा भावी मार्ग स्थिर कर सकते हैं।

आज यह न कहना पड़ेगा कि जितना अन्वेषण बौद्ध धर्माश्रित कलाकृतियों का हुआ है, जैनों का शतांश भी नहीं। भारतीय पुरातत्व विभाग के रिपोर्टस् में या अन्य मासिकों में जो कुछ भी अजैन विद्वानों द्वारा लिखा जा चुका है वह सर्वांशतः ठीक नहीं है। कारण स्पष्ट है। हमने उन लोगों के सम्मुख अपनी कलाकृतियों को समुचित रूप से रखा भी नहीं है। न स्वयं ही मूल्यांकन किया है। आज के गवेषणा प्रधान युग में भी हमारी गति बड़ी शिथिल रही हैं। इतनी विराट सामग्री और श्रीमान समाज के पूर्व पुरुषों की धवल कीर्ति स्वरूप—इन अवशेषों की यह दशा! उफ्!!

जैनसमाज का जीवन त्याग प्रधान होना चाहिये, पर आज इतना अर्थ प्रधान हो गया है कला तक की उपेक्षा, खल भी नहीं है। यह कम लज्जा और परिताप की बात नहीं है।

पुरातत्व का अध्ययन सापेक्षतः श्रम साध्य है। लोग इसे चलती भाषा में "पत्थरों से सर फोड़ना" या "गड़े मुर्दे उखाड़ना" कहते हैं। बात ठीक है। कोई काम कठिन होने से वह उपेक्षणीय नहीं हो जाता। पत्थरों पर फैली हुई कलालता के आन्तरिक मर्म को समझने के लिए तदनुकूल चित्तवृत्ति अपेक्षित है। विशाल वाचन और गंभीर अध्ययन के बाद ही यह कार्य संभव है। भावुक हृदय ही पत्थरो के मर्म को आत्मसात् कर सकता है। जैनाश्रित कलाकृतियो के अध्ययन के लिए सम्पूर्ण जैना- साहित्य का विशेषकर कथा एवं वास्तुशास्त्र विषयक ग्रन्थो का ज्ञान

वाञ्छनीय है। तत्तत्कालीन वेशभूषा, आभूषण और अन्य स्थापत्य में व्यवहृत कलात्मक अलंकरणों का तुलनात्मक अध्ययन भी अपेक्षित है। राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक इतिहास के अतिरिक्त प्राचीन लिपियों का परिपक्व अनुभव भी आवश्यक है। क्योंकि व्यक्ति को समझना सापेक्षत कठिन नहीं है पर भावना को समझना और फिर उसे व्यक्त करना दीर्घकालीन साधना का विषय है। समसामयिक कलाकृतियों को जब तक समन्वित रूप में न समझा जायगा तब तक पुरातत्व का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा।

जैन पुरातत्व के अन्वेषकों में डा० कजिन्स, जेम्स वर्जेस, डा० गिरनाट, डा० बूल्हर, डा० भाण्डारकर, डा० साकलिया, स्व० डा० गौरीशंकर ओझा, नरसिंहाचार्य, मुनि श्री जिनविजयजी, डाक्टर विलियम नार्मन ब्राउन, श्री साराभाई नवाब, श्री अगरचन्द नाहटा बाबू पूरणचन्द नाहर, बाबू कामताप्रसाद जैन, श्री शान्तिलाल उपाध्याय, उमाकान्त शाह, श्री अशोक भट्टाचार्य, और बाबू छोटेलाल जैन आदि प्रमुख हैं। यदि सभी विद्वान्—विद्यमान हैं—मिलकर कार्य करें तो बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो सकती है। कलकत्ता निवासी बाबू छोटेलाल जी जैन का इस दिशा में वर्षों से प्रयास जारी है।

जनाश्रित शिल्प और चित्रकला के प्रकाशन में भी समाज पश्चातपद ही रहा है। श्रीयुत साराभाई नवाब ने इस विषय में अभूतपूर्व कार्य किया है। "भारत के जैन तीर्थ और उनका शिल्प स्थापत्य" और मुनि जयन्त-विजय जी का "आबू" महत्वपूर्ण प्रकाशन है। इनके अतिरिक्त निम्नोक्त पत्रों और रिपोर्टस में कुछ सामग्री मिल जाती है। रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन और बंगाल के जर्नल्स, 'आर्किलोजिकलसर्वे आफ इण्डया' के रिपोर्ट 'रूपम' इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री, सोसायटी आफ दी इण्डियन ओरिएन्टल आर्ट, बम्बई यूनिवर्सिटी, जर्नल आफ दी अमेरिकन सोसाइटी आफ दी आर्ट, भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, इंडियन कलचर आदि जर्नल्स भारतीयविद्या, ज्ञानोदय,

जैन सिद्धान्त भास्कर, आदि सामयिक तथा विभिन्न अभिनन्दन ग्रन्थों में एवं भारतीय अभारतीय आश्चर्य-गृहों की सूचियों में जैनपुरातत्व और कला के मुखको उज्वल करने वाली सामग्री पर्याप्त मात्रा में भरी पड़ी है।

पुरातत्त्व भी एक गंभीर शास्त्र है, स्वतंत्र विज्ञान है। प्राचीन परंपरा और नैतिकता का भव्य प्रतीक भी। हमारी सभ्यता और संस्कृति इसके एक-एक अणु में परिलक्षित होती है। चिन्तनपूर्ण विचारधारा का वह साकार रूप है। वर्णित कृतियों से सिद्ध होता है कि त्यागपूर्ण जीवन-यापनकर नैतिक संतुलन को बनाये रखने वाले श्रमण गण और श्रीमानों ने कला के माध्यम से समत्व की भावना जनमन में प्रतिष्ठापित की। प्राकृतिक शान्ति और सद्भावना को मूर्तरूप देकर अहिंसा को साकार किया, श्रमणसंस्कृति का महान् सन्देश दिया। कलाकारों को समुचित रूप से समादृत कर भारतीयजनजीवन और आत्मलक्ष्मी-भावना को रूपदान दे-दिलवाकर, न केवल शिल्पकला विषयक परंपरा की रक्षा की अपितु इतिहास में प्राण संचारित किया। रेखाओं के द्वारा भावों को ऐसे ढंग से व्यक्त किया कि वे वर्षों तक मानव का पथ-प्रदर्शन करते रहें। आज भी कलाकार जिनमंदिर या तदंगीभूत कृतियों के बीच उपस्थित होकर अनुभव करता है कि जीवन क्षणभंगुर है, वीतरागता ही उन्नति का मूल है। विकारग्रस्त जीवन ही पतन का कारण है।

जैनाश्रित शिल्पकला को रस और सौंदर्य की दृष्टि से यदि हम अवलोकन करने की चेष्टा करें, तो हमें ऐसा लगेगा कि ये कृतियाँ साम्प्रदायिक भावना से बहुत ऊँची उठी हुई हैं। इनमें सत्य और अहिंसा का प्रभाव परिलक्षित होता है। दृष्टि-सम्पन्न मानवकृत प्रयास हमारे जीवन को तब ही आलोकित कर सकता है जब हम आत्मचित्तवृत्तियों को स्थिर कर उनकी मानसिक आराधना में जुट जाँय। रस-पान और सौंदर्य-दर्शन में अपने आपको कुछ क्षणों के लिये विस्मृत कर दें।

# चित्रकला

संसार की ललित-कलाओं में चित्रकला एक ऐसी कला है, जिसमें महान् तत्वों का समीकरण हुआ है। न जाने कितने अतीत काल के मानवीय भावों के आकर्षक और विचारोत्तेजक तत्वों का समुचित अंकन सहज स्वभाव से इसमें स्फुरित हुआ है। इस कला द्वारा गम्भीर और व्यापक मनोभावों को बड़ी आसानी से जनता के सम्मुख रखा जा सकता है। पूर्वकालीन जानतिक उन्नति के अस्तित्व के रहस्य और स्वर्णिम स्मृतियों को चिरस्थायी बनाने और उसका प्रतिनिधित्व करने की अपूर्व क्षमता तत्कालीन चित्रकला में है। विभिन्न भाषा-भाषी मनुष्यों की उच्चातिउच्च नैतिक विचारधारा, उनके रहन-सहन एवं तदंगीभूत जीवनगत घटनाओं की वास्तविकता बहुत कुछ अंशों में उस समय की चित्रकला में अन्तर्निहित है। कभी कभी हृदयगत मूल्यवान भावों के प्रवाह का यथावत् व्यक्तिकरण शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। पर रंग और रेखाओं के अकथनीय माध्यम से विशिष्ट कोटि के विचारों का उद्घाटन बड़ी सहूलियत से हो सकता है। रेखाएँ सुस्पष्ट होकर विशेष अर्थ और गंभीरता का वास्तविक रहस्य उपस्थितकर मानव-हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। वास्तविक चित्र एक उत्तम खण्ड-काव्यसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं। चित्रकर्त्ता को भी एक आदर्श कवि से कम प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सफल चित्रकार की कल्पना शक्ति, कवि की मानसिक पृष्ठभूमि से भी बढ़कर होती है। मुझे स्पष्ट-शब्दों में कहना चाहिये कि सच्चे अर्थ में वही कलाकार है, जो मूक भाषा में अपने मस्तक एवं हृदय के गूढ़तम भावों के प्रवाह की धाराएँ अस्खलित रूप से साधारण उपकरणों द्वारा प्रवाहित करने की अपूर्व क्षमता रखता है। अतः यदि व्यापक रूप में उसे उच्चकोटि का दार्श-

निक कहें, तो क्या अनुचित है। वह विश्व-भाषा—तेजोमयी पर शब्द-शून्य वाणी—में केवल रेखाओं के अतुलित बल पर अपना परिष्कृत हृदय बहा देता है। कलाकार की चिन्तनसीमा विस्तृत एवं उसकी विचार-धारा भी अन्तर्मुखी होती है। उसका दैनिक जीवन एक आदर्श उपस्थित करता है। कलाकार के शुभ्र संसार में विचरण करने के लिए उसके मूलभूत तत्वों को अनिवार्यतः आत्मसात् करना पड़ता है। जिन्होंने प्राचीन चित्रों के आभ्यन्तरिक रहस्य को समझने का थोड़ा-बहुत यत्न किया है, वे जानते हैं कि भावपूर्ण रेखांकन के देखते ही चित्रान्तर्गत ऊर्मियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। द्रष्टा के हृदय-कमल पर उनका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः मानव की चित्तवृत्तियों के अनुभव एवं हृदयगत ऊर्मियों को उपस्थित करने में चित्रकला ही सर्वोच्च जीवित कला है। चित्रकला वि-व-लिपि है।

प्राचीन भारत में चित्रकला उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी। गार्हस्थ्य-जीवन के प्रधान उपकरण से लगाकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन इससे ओत-प्रोत था। पुरातन साहित्य पर यदि हम दृष्टि केन्द्रित करें, तो विदित होगा कि चित्रकला के महत्व, चित्रों की आवश्यकता और उनके उपकरण, मानव-जीवन में उनका स्थान, शरीर के भिन्न-भिन्न अंग-उपांगों से सम्बन्धित रंग. विषयों का विशद विश्लेषण आदि उसमें भरा पड़ा है। प्राचीन कला कृतियाँ भी उसमें वर्त्तमान हैं। यदि विशिष्ट दृष्टि-कोण से देखें तो चित्रकला में चित्रित भाव-भंगिमा, शारीरिक गठन एवं सर्वाङ्गपूर्णता का अच्छा आभास मिले बिना न रहेगा। चित्रकला के छोटे-से-छोटे सिद्धान्त का भी जो विशद् विश्लेषण हमारे पूर्वजों ने किया था, वैसा विचार अन्य राष्ट्रों में सम्भवतः न मिले। कालचक्र का प्रभाव अबाध गति से चलता ही रहता है। चित्रकला भी काल की गति और बल को देखकर अवश्य ही प्रभावित हुई है, जैसा कि विभिन्न कालीन साहित्यिक संकेतों से स्पष्ट है। प्रसंगवशात् यह लिखना भी आवश्यक है